

## आभार

यह किताब लगभग पूरी तरह से समूह-संगोष्ठियों में बातचीत पर आधारित है। इसलिए इसे 'बोलती किताब' - स्पीकिंग बुक - कहना उचित ही होगा। (मशहूर शिक्षाशास्त्री पाओलो फ़ेरे ने महान शिक्षाकर्मी माईल्स हार्टन से बातचीत के जरिये 'शिक्षा' पर किताब तैयार करने की पेशकश की थी। वह बातचीत किताब रूप में प्रकाशित हुई - 'वी मेक द रोड बाई वाकिंग।' उसका हिंदी अनुवाद - 'चलकर राह बनाते हम' - भी छप चुका है। उस किताब को स्पीकिंग बुक - बोलती किताब - के रूप में जाना जाता है।)

प्रस्तुत किताब मुख्यतः दो महत्वपूर्ण संगोष्ठियों का प्रतिफल है। एक संगोष्ठी दिल्ली (19-20 मार्च, 2001) में हुई थी और दूसरी हैदराबाद (4 जनवरी, 2003) में। (उन दो के बीच कई अन्य छोटे-मोटे संवाद एवं संगोष्ठियों का सिलसिला चला।)

वर्ष 2001 की दिल्ली की संगोष्ठी वस्तुतः 'सम्मेलन' थी, जिसमें भारत, नेपाल, पाकिस्तान, जर्मनी और फिनलैंड के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। उस सम्मेलन ने संगोष्ठी में शामिल तमाम प्रतिनिधियों को 'दक्षिण एशिया में लोकतंत्र' पर संवाद स्थापित करने का अवसर प्रदान किया। सबने वर्तमान लोकतंत्र के प्रतिनिधिमूलक स्वरूप की सीमाओं, लोकतंत्र के सामने खड़ी चुनौतियों और परंपरा में विद्यमान सहभागी लोकतंत्र के सूत्रों पर विस्तार से चर्चा की। उन्होंने पूरे दक्षिण एशिया में

लोकतंत्र सम्वर्द्धन के लिए साझा कार्यक्रम की संभावनाओं को तलाशने का प्रयास किया।

दूसरी संगोष्ठी हैदराबाद में इस वर्ष हुए 'एशियाई सामाजिक मंच' (एशियन सोशल फोरम) के वृहद आयोजन (जो 2 से 7 जनवरी तक चला) का हिस्सा थी। वह संगोष्ठी सह कार्यशाला थी। उसमें नेपाल से आये प्रतिनिधि ही मुख्य वक्ता थे। उस संगोष्ठी में भारत के कई प्रतिनिधि और नेपाल-भारत के बीच 'पीपुल टू पीपुल डॉयलॉग' (दोनों देशों की जनता के बीच संवाद) के इच्छुक लोग भी उपस्थित थे लेकिन उन्होंने सिर्फ श्रोता की भूमिका निभायी। उस संगोष्ठी में 'नेपाल की वर्तमान स्थिति' पर खुल कर चर्चा हुई। वक्ताओं ने नेपाल में लोकतंत्र बहाल करने की वैकल्पिक संभावनाओं और सूत्रों के साथ-साथ अपनी सहभागी भूमिका की तलाश की।

उक्त दो संगोष्ठियों में सहभागियों के अनुभवों में विविधता के कारण भविष्य के प्रति उनका दृष्टिकोण भी अलग-अलग था। दोनों गोष्ठियों में विभिन्न राजनीतिक दलों, गैरसरकारी संस्थाओं और शिक्षण संस्थानों से जुड़े लोग शामिल थे। उनमें अधिसंख्य लोग सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय हैं। शांतिपूर्ण ओर लोकतांत्रिक दक्षिण एशिया के लिए प्रतिबद्धता ने ही इतने विविध अनुभव और दृष्टिकोण से लैस लोगों को एक जगह इकट्ठा होने को प्रेरित किया।

### दिल्ली संगोष्ठी की कार्यवाही

दिल्ली की दो दिवसीय संगोष्ठी में कुछ लोगों ने प्रथमतः दक्षिण एशिया की परंपराओं को टटोलने का प्रयास किया - उन तमाम परंपराओं को जो जिंदा लोकतांत्रिक संस्थाओं और समृद्ध प्रक्रियाओं के रूप में आज भी प्रवहमान हैं। उन्होंने माना कि ऐसे समय में जबकि हम लोकतंत्र के प्रतिनिधिमूलक स्वरूप की सीमाओं को पहचान रहे हैं, ये परम्पराएं सहभागिता पर आधारित लोकतंत्र की कल्पना और आविष्कार के लिए कुछ ऐतिहासिक स्रोत उपलब्ध करा सकती हैं। उनके आधार पर हम नया लोकतंत्र रच सकते हैं। संगोष्ठी में प्रो. इकबाल अंसारी ने

अपनी प्रस्तुति में स्पष्ट कहा कि परंपराओं को टटोलने का अर्थ परंपराओं को पुनर्जीवित करने का प्रयास नहीं है, जैसे कि कई देशों में कट्टरपंथी ताकतें कर रहीं हैं। प्रो. इम्तियाज अहमद ने भी कहा कि यह पुनर्जागरण सिर्फ लोकतांत्रिक भागीदारी के संदर्भ में ही हो सकता है। प्रो. डीएल शेठ ने अपने पर्चे में भारत की लोकतांत्रिक परंपराओं की विस्तृत व्याख्या करते हुए मुख्यतः यही रेखांकित किया कि यह अतीत को पुनर्जीवित करने का प्रयास नहीं, बल्कि सहभागी लोकतंत्र के नये स्वरूपों के कल्पना-श्रोतों की तलाश है।

दिल्ली संगोष्ठी में चर्चा का दूसरा विषय था - 'दक्षिण एशिया में लोकतंत्र पर खतरा।' भारत में राजनीतिक संस्थाओं में व्याप्त भ्रष्टाचार पर विश्वबंधु गुप्ता ने विस्तार से अपनी बात रखी। वह कई वर्षों से भारत में सत्ता के उच्च शिखरों पर जारी भ्रष्टाचार की पड़ताल कर रहे हैं। नेपाल के वामपंथी एक्टीविस्ट हरि रोका ने वहां के अपने अनुभवों को बांटते हुए बताया कि कैसे भ्रष्टाचार नेपाल में लोकतंत्र के बुनियादी ढांचे को हिला रहा है।

दूसरे दिन 'अस्मिता की राजनीति' पर गंभीर विचार-विमर्श हुआ। डा. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने संस्कृति और अस्मिता के मुद्दों को केंद्र में रखकर भारत की वामपंथी राजनीति की चुनौतियों का सिंहावलोकन किया। उन्होंने संस्कृति और अस्मिता के संदर्भ में भारतीय वामपंथ के लिए अपनी स्थिति के बारे में आत्ममंथन करने की जरूरत पर विशेष चर्चा की। भारतीय वामपंथी राजनीति के सिंद्धांतकार डी राजा ने भी माना कि भारत के वामपंथ ने जिस तरह से संस्कृति और अस्मिता के मुद्दों को उठाया है, उसकी कुछ सीमाएं रही हैं। हालांकि उन्होंने यह तर्क भी पेश किया कि भारतीय जन-जीवन की जटिलताओं के बीच वामपंथ ने अच्छे परिणामों के लिए हर संभव प्रयास किया है। उन्होंने कहा कि भारत का वामपंथ साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के खिलाफ जारी संघर्ष के केंद्र में है।

दीप्तिप्रिया मेहरोत्रा ने भारतीय सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं से जुड़े मूलभूत सवाल उठाये, जो समाज में महिलाओं और पुरुषों के

लिए अलग-अलग स्थान (स्पेस) निर्धारित किये जाने की कोशिशों को चिन्हित करते हैं। यह अलग-अलग स्थान ही राजनीति में भागीदारी में जटिलता पैदा करता है। इसलिए घर, समाज और राज्य (स्टेट) में अधि क साझा व आत्मीय संबंधों के लिए वर्तमान स्थिति में व्यापक परिवर्तन की जरूरत है। कमलनयन काबरा ने भारत में कालेधन के संदर्भ में राजनीति और अर्थव्यवस्था के बदलते अन्तर्सम्बंधों पर विस्तार से चर्चा की और बताया कि इससे लोकतंत्र के लिए कैसे-कैसे खतरे पैदा हो रहे हैं।

दूसरे दिन का अंतिम सत्र उत्तर-दक्षिण एकता के निर्माण पर केंद्रित था। फिनलैंड के रिस्तो इसोमाकी ने नॉर्डिक देशों में राज्य की कल्याणकारी भूमिका के खात्मे की चर्चा करते हुए उत्तर-दक्षिण दोनों क्षेत्रों के राजनीतिक नेतृत्वों के बीच एकता की आवश्यकता पर बल दिया। रोशन धुंजीभाँय ने दक्षिण एशिया में जनता के बीच के सम्बंधों की वकालत की। विजय प्रताप ने उत्तर-दक्षिण एकता की राह की चुनौतियों को चिन्हित किया। उनका कहना था कि जब भी दक्षिण के कुछ कार्यकर्ताओं की ओर से उत्तर के कार्यकर्ताओं से सम्बंध स्थापित करने का कोई प्रयास किया जाता है, तो दक्षिण का राजनीतिक नेतृत्व न उत्साह प्रदान करता है और न सहयोग। भारत में नेपाल के राजदूत भेष बहादुर थापा भी सम्मेलन में शामिल हुए। उन्होंने एक सत्र की अध्यक्षता भी की।

### हैदराबाद संगोष्ठी की कार्यवाही

यह एशियाई सामाजिक मंच के विराट आयोजन की एक कड़ी थी हैदराबाद संगोष्ठी।

पिछले साल यानी 11 अक्टूबर, 2002 को नेपाल नरेश ज्ञानेंद्र ने लोकेंद्र बहादुर चंद को प्रधानमंत्री नियुक्त किया था। उसके हफ्ता भर पहले उन्होंने नेपाली कांग्रेस के शेर बहादुर देउबा के नेतृत्व वाली निर्वाचित सरकार को बर्खास्त कर दिया था। नेपाल नरेश ने 4 अक्टूबर को शाही आदेश जारी करते हुए देउबा को हटा दिया था। देउबा ने नेपाली कांग्रेस के अध्यक्ष गिरिजा प्रसाद कोइराला के साथ आपातकाल

बढ़ाये जाने के मुद्दे पर मतभेद के बाद 22 मई, 2002 को संसद भंग कर दी थी।

नेपाल से एशियाई सामाजिक मंच के आयोजन में उपस्थित नेपाली प्रतिनिधियों ने उक्त परिप्रेक्ष्य में 'नेपाल में लोकतंत्र की सीमा और संभावना' पर विस्तार से चर्चा की। उस संगोष्ठी के शुरू में विजय प्रताप (भारत) ने बताया कि अगर नेपाल की राजनीतिक स्थिति में इस कदर उलटफेर न होता, तो हैदराबाद की बजाय नेपाल में ही प्रथम एशियाई सामाजिक मंच का आयोजन हुआ होता।

वस्तुतः एशियाई सामाजिक मंच के आयोजन की तैयारी और स्थान निर्धारण के सिलसिले में पहली मीटिंग 9-10 जनवरी, 2002 को दिल्ली में हुई थी। उसमें नेपाल के स्वतंत्र वामपंथी बुद्धिजीवी और कार्यकर्ता, सीपीएन (एमएल), लोकतांत्रिक समाजवादी धारा के स्वतंत्र कार्यकर्ता, नेपाली कांग्रेस के कार्यकर्ता, सीपीएन (यूएमएल) के कार्यकर्ता और नेपाल ग्रीन पार्टी के कार्यकर्ता - सब शामिल थे।

विजय प्रताप ने उक्त मीटिंग के हवाले से कहा - 'हम आन्दोलन के स्तर पर सब मिलकर काम करते हैं, इसलिए हमारे आमंत्रण पर नेपाल से सभी धाराओं के लोग आये। उसमें यह प्रस्ताव हुआ कि पहला बड़ा सम्मेलन - चाहे वह दक्षिण एशिया स्तर का हो, एशिया स्तर का हो या अफ्रो-एशियाई स्तर का - काठमांडो में होना चाहिए। उसका स्वरूप और विस्तार बाद में तय किया जाएगा। मीटिंग में सब साथियों ने एक मत से उसके लिए स्वीकृति दी थी। लेकिन उसमें एक शर्त थी कि नेपाल में लोकतंत्र बचेगा, तभी यह संभव होगा। सरकार चाहे किसी की भी हो, तब सम्मेलन हो जाएगा। यह सब की ओर से कहा गया। नेपाल के साथियों ने कहा कि अगर सिस्टम नहीं बचेगा तो यह हमारे लिए मुमकिन नहीं होगा।

नेपाल की परिस्थिति तेजी से बदलती चली गई, तो नेपाल के साथियों ने सूचना दी कि जोखिम लेना अच्छा नहीं है। यह सिर्फ भारत और नेपाल की आपसी बात नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर भी बहुत दिक्कत होगी। इसलिए यह आयोजन भारत में ही होना चाहिए। भारत के लोगों ने 3-4 महीना इंतजार किया और अप्रैल, 2002 में यह तय

हुआ कि एशियाई सामाजिक मंच का आयोजन भारत में हो। हालांकि इसके बाद भी विश्व समाज मंच की तैयारियों में शामिल भारतीय मित्र सोचते रहे कि नेपाल में लोकतंत्र की कोई न कोई राष्ट्रीय प्रक्रिया शुरू होगी। इसके लिए नेपाल के उन लोगों से सम्पर्क करने की कोशिश की गयी, जो विश्व सामाजिक मंच के ब्राजील सम्मेलन में शामिल होने के लिए पोर्तोएलेग्रे गये थे। और भी छिटपुट प्रयास हुए, राष्ट्रीय प्रक्रिया शुरू करने की कोशिशों के तहत विभिन्न पक्षों के बीच 'संवाद' कायम करवाने की व्यवस्था की गयी। नेपाल में एशियाई सामाजिक मंच का आयोजन करने का प्रस्ताव करनेवालों में अन्तर्राष्ट्रीय ग्राम सेवा संघ दलों के लोग शामिल थे। उन लोगों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क पहले से बने हुए थे। वे इस तरह का काम करने में सक्षम भी थे। उन लोगों ने आंतरिक संबंधों के आधार पर काम किया, आयोजन की तैयारी की, लेकिन जो राजनीतिक लोग हैं और उनके जो अन्तर्राष्ट्रीय विभाग हैं, उनकी ओर से या जनआंदोलनों एवं ट्रेड यूनियनों के लोगों की ओर से यह काम विपरीत परिस्थिति और अन्य अव्यवस्थाओं की वजह से नहीं हो पाया। इसलिए अंततः हैदराबाद, भारत में एशियाई सामाजिक मंच का आयोजन हुआ।

हैदराबाद नेपाल की विभिन्न विचारधाराओं एवं आंदोलन समूहों के प्रतिनिधि बड़ी संख्या में आये। वहां 'नेपाल में लोकतंत्र' विषयक मुकम्मिल संगोष्ठी के लिए दीपक और अरुण जोशी ने पहल की। आयोजकों ने कहा भी कि फिलहाल नेपाल में दो धाराओं के बीच खुलकर बात करना संभव नहीं हो रहा। लेकिन जब अन्तर्राष्ट्रीय शोषण और अन्तर्राष्ट्रीय शोषण के ढांचे के बारे में बात करनी हो, तब नेपाली कांग्रेस, यूएमएल, मसाल और एकता केंद्र में जो फर्क हैं, ये कम हो जाते हैं। सबके लिए साथ मिल-बैठकर अन्तर्राष्ट्रीय घोषणा के दायरों में, सत्ता के ढांचों और राजनीतिक प्रवृत्तियों के बारे में बात करना आसान होता है।

संगोष्ठी में सबने नेपाल की स्थिति पर विस्तार से और खुल कर विचार-विमर्श किया। यह किसी को अटपटा नहीं लगा कि नेपाल के

लोकतंत्र पर नेपाल के पड़ोस में बात हो। नेपाल में लोकतंत्र विषयक संगोष्ठी में उन्होंने जो विचार व्यक्त किये, उससे यह विश्वास पुख्ता हुआ कि दुनिया में समता और लोकतंत्र के लिए संघर्ष की जो धारा चल रही है, उससे वे जुड़े हुए हैं और किसी न किसी तरह उस धारा को संपुष्ट करना चाहते हैं।

(वैसे, इस किताब के संपादन और प्रकाशन के पूर्व नेपाल की आंतरिक स्थिति में और भी कई धमाकेदार परिवर्तन हुए। नेपाल के मनोनीत प्रधानमंत्री लोकेंद्र बहादुर चंद ने 30 मई, 2003 को अचानक अपने पद से इस्तीफा दे दिया। राजभवन से बयान जारी किया गया कि उनका इस्तीफा मंजूर कर लिया गया और नेपाल नरेश ने नये मंत्रिमंडल के गठन के लिए विचार-विमर्श शुरू कर दिया है। चंद ने ऐसे समय में इस्तीफा दिया, जबकि प्रमुख राजनीतिक दल एवं संगठन, माओवादी राजनीति के दबाव और सहमति के मद्देनजर, देश में सर्वदलीय सरकार के गठन की सर्वमान्य प्रविधि की तलाश में अनेक स्तर पर विचार-विमर्श के लिए राजी हैं। इसी बीच नेपाल नरेश ने ..... को प्रधानमंत्री नियुक्त किया और नेपाल में नये लोकतंत्र की संभावना के द्वार खोलने के लिए जरूरी 'परस्पर संवाद' जैसी शुरुआती 'दस्तक' देने के लिए तैयार हाथों को रोक दिया! किताब छपने तक नेपाल से सूचना आयी कि वह शाही सेना और माओवादियों के बीच वो "युद्ध विराम" की अवधि खत्म हो गयी। दोनों के बीच जबर्दस्त संघर्ष चल रहा है।)

## रिपोर्ट नहीं, किताब

उक्त दोनों संगोष्ठियों में हुए विचार-विमर्श को, जब 'बोलती किताब' के रूप में पेश करने का फैसला हुआ, तभी यह तय हो गया था कि यह महज रिपोर्ट नहीं होगी।

'ऑडियो टेप' से पूरे विचार-विमर्श का लिप्यांतरण किया ..... (नाम) ने। फिर अंग्रेजी से हिंदी, हिंदी से अंग्रेजी, नेपाली से अंग्रेजी और हिंदी अनुवाद का दौर चला। इसमें ..... (मूल अनुवादकों के नाम) के अलावे कई-कई लोगों ने सहयोग किया। पूरी रिपोर्ट सामने आयी, तब संपादकों ने संगोष्ठी के समय-फ्रेम से न बंधते हुए कोशिश की कि विमर्श के मूल एवं खास बिंदुओं के अनुसार विषय का वर्गीकरण किया जाये और अलग-अलग अध्याय बनाये जायें। संगोष्ठियों में विचार-विमर्श अलग-अलग सत्रों में चला। लेकिन किताब में जो अध्याय तैयार किये गये हैं, उनमें सत्रों के विषय-क्रम का अनुसरण नहीं किया गया है। कुछ मुद्दों पर बाद के सत्रों में विचार-विमर्श हुआ लेकिन किताब में उन्हें शुरू के अध्याय में रख गया। किताब के अध्यायों के मुताबिक वक्ताओं और लेखकों का क्रम रखा गया। हैदराबाद संगोष्ठी के विचार-विमर्श के लिए किताब में प्रथम तीन वक्ताओं - प्रदीप गिरी, विमलेंद्र निधि और चित्रलेखा यादव - के संभाषण को विचार खंड में रखा गया, जबकि बाकी सबको विमर्श के खंड में। कोशिश यह रही कि पाठकों में किताब पढ़ते वक्त उक्त संगोष्ठियों के श्रोता होने का एहसास पैदा हो। और, पढ़ते वक्त उन्हें यह भी लगे कि वे संगोष्ठियों की रपट नहीं, बल्कि मुकम्मिल 'किताब' से गुजर रहे हैं।

रिपोर्ट से किताब बनाने तक का यह सफर किंचित लम्बा और थकानेवाला था। पहले टेप से लिप्यांतरण किया गया। किसी वक्ता का भाषण हिंदी में, तो किसी का अंग्रेजी में। हैदराबाद संगोष्ठी में तो नेपाल के अधिसंख्य प्रतिनिधियों ने नेपाली भाषा में अपने विचार पेश किये। सो वक्ताओं के भाषण मूल भाषा में ही लिप्यांतरित किये गये। फिर उनका अंग्रेजी और हिंदी में अनुवाद हुआ। अनुवाद के बाद पांडुलिपि तैयार करने और विषयानुसार संयोजन और संपादन का लम्बा सिलसिला।

इस बीच यानी मार्च, 2001 के बाद नेपाल, पाकिस्तान सहित पूरे दक्षिण एशिया की राजनीति में कई विस्फोट हुए। देशों की अंदरूनी सत्ता-राजनीति के साथ-साथ पड़ोसी देशों के आपसी सम्बंधों में तनाव का दौर शुरू हुआ। कई मामलों में यह आशंका भी उठी कि जिन विषयों पर वक्ताओं ने अपने विचार व्यक्त किये, संदर्भ बदलने की वजह से वे विचार अधूरे या बेमानी हो जायेंगे या खुद वक्ता अपनी राय बदलेंगे। सोचा यह थी कि अंग्रेजी और हिंदी में तैयार पांडुलिपि की छपने के लिए प्रेस में देने से पहले सम्बद्ध वक्ताओं को उनके आलेख या वक्तव्य भेज दिये जायेंगे ताकि वे अपने कहे को सत्यापित करें। उनकी जानकारी में हो कि उन्होंने किस संदर्भ में क्या बात कही थी और वह किस रूप में छप रही है। लेकिन आपसी तनाव और दक्षिण एशिया की अन्य त्रासद घटनाओं के कारण इस प्रक्रिया में कई बाधाएं आयी। कई वक्ताओं से दोबारा संपर्क करना संभव नहीं हुआ। प्रकाशन में विलम्ब हुआ। कई बार तो यह लगा कि किताब छप नहीं पायेगी। पांडुलिपि तैयार करने तक की यात्रा इतनी लम्बी और खर्चीली रही कि कई बार आर्थिक सहयोग की याचना और प्रतीक्षा में समय बीता और यात्रा स्थगित रही।

अंततः किताब छापने के लिए भी सुश्री रोशन धुन्जीभॉय, श्री विजय प्रताप, डा. अरुण सिंह और अनिल भट्टराई ने पुनः छोटी-मोटी संगोष्ठी की। इसका इंतजाम सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसाइटी (सीएसडीएस) की अध्ययन योजना के तहत 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में किया गया। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' ने अपने सहयोगी मित्रों के साथ कई बैठकें की। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के योजना निदेशक प्रो. डीएल शेठ और सीएसडीएस के निदेशक प्रो. वीबी सिंह ने इस पूरे प्रकरण में अभिभावक और अनन्य सहयोगी की भूमिका निभाई। नेपाली सहकर्मी दीपक प्रकाश भट्ट और सुजाता थापा सहित भारतीय सहकर्मी सूरजदेव सिंह, और कुसुमलता ने संगोष्ठियों के आयोजन से लेकर किताब की पांडुलिपि तैयार करने तक की प्रक्रिया में जिस तरह का योगदान किया, उसके लिए यही कहना मुनासिब होगा कि संगोष्ठी से किताब तक की यात्रा का पूरा बोझ उनके ही कंधों पर था। उन्होंने अचानक आनेवाली

बाधाओं और थकन के बीच भी अद्भुत धैर्य का परिचय दिया, रूटीन और तकनीकी कार्यों सहित दुनिया भर के सहयोगी-मित्रों से हर हालत में संपर्क साधने में भी आंदोलनकारी समाजसेवी जैसी प्रतिबद्धता का पालन किया। उनके धैर्य और प्रतिबद्धता के बिना यह यात्रा शायद संपन्न न होती। उन्होंने साबित कर दिया कि सिर्फ़ पैसे से नहीं बल्कि उनमें निहित धैर्य और प्रतिबद्धता की बदौलत ही ऐसी किताबें 'बोलती' हैं।

संपादक गण

**अनिल भट्टराई**

**विजय प्रताप**

## भूमिका

लोकतंत्र संवाद की आवश्यकता

अनिल भट्टराई-विजयप्रताप

## लोकतंत्र संवाद की आवश्यकता

अनिल भट्टराई-विजयप्रताप

दक्षिण एशिया के लोगों के बीच गहरे ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सम्बंध हैं। इस क्षेत्र में कई तरह की विविधताएं हैं। उनमें अलग-अलग समाजों के जुड़ाव के अंतःसूत्र हैं। यहां की सांस्कृतिक एवं धार्मिक विविधता, जलवायु, पेड़-पौधे और जीव-जंतुओं सहित संस्थानों की विविधता एक-दूसरे से सीखने-सिखाने की शानदार पृष्ठभूमि पेश करती हैं।

इस क्षेत्र में लोकतांत्रिक परम्पराओं का एक समृद्ध और लम्बा इतिहास है। इस इतिहास में पहले से ही लोकतंत्र के आधुनिक राष्ट्र-राज्य का वह मॉडल विद्यमान है, जिसे बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अपनाया गया। सामुदायिक और सामाजिक जीवन के संचालन और प्रबंधन के लिए विकेंद्रित और स्थानीय संस्थाएं, विवाद के घेरे में होने के बावजूद, दक्षिण एशिया में हजारों वर्ष पूर्व ही विकसित हुईं। ये संस्थाएं लम्बे समय में कई तरह के उतार-चढ़ावों से गुजरीं। उनमें से कुछ लुप्तप्राय हो चुकी हैं। कुछ नये रूपों में ढल चुकी हैं। कुछ इतिहास की किताबों का हिस्सा बनकर रह गयी हैं।

पिछले पांच दशकों में लोकतंत्र (लोकतंत्र का अभाव!) के नये-नये अनुभव हुए हैं। दक्षिण एशिया के कुछ देशों ने साहसिक शुरुआत की, जिसे द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप आधुनिकीकरण का नया युग कहा जाता है। एक नयी राज्य-व्यवस्था अस्तित्व में आयी और कुछ देशों में राजनीति के नये अर्थ में लोकतंत्र प्रकट हुआ -

चुनाव, संसद एवं विधानसभा, निर्वाचित सरकारों का गठन, न्यायपालिका की नयी संस्थागत रचना और निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी कार्यपालिका।

दक्षिण एशिया में हर जगह के अनुभव एक से नहीं रहे हैं। वस्तुतः आधुनिक लोकतांत्रिक प्रयोगों के संदर्भ में भारत और श्रीलंका को छोड़कर अन्य देशों का अनुभव निराशाजनक रहा है। नेपाल में लगभग पूर्ण राजतंत्र, पाकिस्तान और बंगलादेश में भी सत्ता पर फौज का कब्जा, किसी तरह के संसदीय लोकतंत्र के बगैर अब तक कायम भूटानी राजतंत्र - आधुनिक लोकतंत्र के बारे में बहुत कुछ कहते हैं, जिसने इस महाद्वीप के लोगों को वास्तविक लोकतंत्र से वंचित कर रखा है।

नब्बे के दशक में इनमें से कुछ देशों में स्थितियां बदलने लगी थीं। नेपाल पूर्ण राजशाही शासन से मुक्त हुआ और नये संविधान के तहत संवैधानिक राजतंत्र के रास्ते पर अग्रसर हुआ। नये संविधान में बुनियादी मानवाधिकार, निर्वाचित संसद, संसद के प्रति उत्तरदायी कार्यपालिका, स्वतंत्र न्यायपालिका और अन्य कई चीजें शामिल की गयीं। इससे महाद्वीप के सभी देशों में समाज और राजनीति के लोकतांत्रिक रूपान्तरण के लिए संगठित प्रयासों की संभावनाओं के द्वार खुले। इसी तरह की घटनाएं पाकिस्तान और बांग्लादेश में भी हुईं।

यह घटनाक्रम पूरी दुनिया में आयी परिवर्तन की लहर से जुड़ा है - पूर्वी जर्मनी एवं पूर्व सोवियत संघ में एकदलीय तानाशाही शासन और लातिनी अमेरिका एवं कुछ अन्य देशों में दक्षिणपंथी तानाशाही शासन का नाटकीय अंत इसी लहर का परिणाम था। हालांकि नब्बे के दशक के अन्त में कुछ उल्टा भी हुआ। जैसे, पाकिस्तान में फौजी शासन लागू हुआ और अन्य देशों में भी इसी तरह के दुर्बोध परिवर्तन हुए।

पिछले दशक में लोकतंत्र के इस मॉडल की सीमाओं का नया यथार्थ भी प्रकट हुआ। कुछ देशों में यह बोध पहले से था। उदाहरण के लिए, भारत में बड़ी संख्या में जनांदोलन और विविध पहलकदमियों ने राजनीति के प्रतिनिधिमूलक चरित्र की सीमाओं की स्पष्ट पहचान करायी है और ज्यादा विकेंद्रित लोकतांत्रिक ढांचा और प्रक्रिया की जरूरत को रेखांकित किया है। नेपाल की तरह अन्य क्षेत्रों में भी, सही

मायनों में सिर्फ नब्बे के दशक में, प्रतिनिधिमूलक प्रयोग शुरू हुआ, तो जनता ने भी अनुभवों की रोशनी में उनकी सीमाओं को देखना शुरू किया।

विश्व स्तर पर भी कुछ नाटकीय अनुभव पेश आये। भूगोल के उत्तरी गरीब देशों की अर्थव्यवस्था का कार्पोरेट अर्थव्यवस्था से बढ़ती नजदीकियों ने विश्व के दक्षिणी हिस्से की बहुसंख्य आबादी को हाशिये पर ला खड़ा किया है। वंचना बढ़ रही है और अधिसंख्य आबादी के जीवन और आजीविका पर असर डालनेवाले निर्णय बड़े पैमाने पर दूरस्थ केंद्रों से किये जा रहे हैं। इससे दीगर यह कि इस प्रक्रिया को डब्ल्यूटीओ (वर्ल्ड ट्रेड आर्गनाइजेशन - विश्व व्यापार संगठन) की नयी संस्थागत मेकानिज्म के जरिये बढ़ावा दिया जा रहा है।

इस दौरान क्षेत्र के विभिन्न हिस्सों में रूढ़िवाद - कट्टरतावाद - में भी तेज उछाल आया है। धार्मिक कट्टरतावाद का उभार तो लोकतंत्र की उस दृष्टि के लिए खतरा पेश कर रहा है, जो विविधता का सम्मान करता है और समानता व स्वतंत्रता के सार्वभौमिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं करता। धार्मिक रूढ़िवाद नया अनुभव नहीं है। लेकिन नब्बे के दशक के बाद कट्टरतावादी उभार में तेजी आयी है।

हमारे समाज में कई स्तरों पर टूटन जारी है। अधिसंख्य आबादी के लिए व्यक्तिगत पहचान और आजीविका का संकट बना हुआ है। गरीबी की स्थिति भयावह है और बद से बदतर होती जा रही है। गरीब और अमीर के बीच की खाई बढ़ी है। पूरे क्षेत्र के प्रत्येक देश में पूंजी और सत्ता समाज के चंद बड़े लोगों (प्रभुओं!) के हाथ में सिमट रही है। यह उसी वैश्विक ट्रेंड के अनुरूप है, जिसमें सर्वत्र पूंजी और सत्ता का तेजी से केंद्रीकरण होता दिख रहा है।

रूढ़िवाद में उभार ने समुदाय के स्तर पर समाज के एक बड़े हिस्से की लोकतांत्रिक भागीदारी की उम्मीदों को कुंद कर दिया है। ऐसा दक्षिण एशिया के अधिसंख्य देशों में हो रहा है। जन भागीदारी के लिए बनी संस्थाएं तेजी से विनष्ट हो रही हैं। सामाजिक जीवन का बढ़ता जिंसीकरण समुदायों के सामाजिक रिश्तों को यांत्रिक बना रहा है। अधि

क से अधिक लोग बाजार में विनिमय के जरिये एक-दूसरे को जोड़ रहे हैं। अतीत में विभिन्न समुदाय और समूहों में जिस तरह के सहजीवी रिश्ते विद्यमान थे, वे टूट के शिकार हैं।

राष्ट्र-राज्य भी पुनर्निर्माण की प्रक्रिया से गुजर रहा है। पारदेशीय नायकों के बढ़ते वर्चस्व ने ऐसी स्थितियां पैदा कर दी हैं, जिनसे किसी भी राष्ट्र-राज्य में अपनी स्वायत्त भूमिका कायम रखने की शक्ति उत्तरोत्तर सीमित होती जा रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की भूमिका भी बहुराष्ट्रीय निगमों की बढ़ती ताकत और चंद विकसित देशों के सैन्य वर्चस्व के रू-ब-रू निरंतर घटती जा रही है। इससे हमारे समाजों और राजनीतियों के लोकतंत्रीकरण की संभावनाओं के द्वार भी बन्द होते जा रहे हैं।

शीर्ष पदों पर बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार राजनीतिक क्षेत्र में भी पहुंच चुका है। इससे राजनीतिक प्रणाली और उसके राजनीतिक पात्रों पर अवैधता का सवाल उठ गया है। यह पूरे दक्षिण एशिया में लोकतांत्रिक संस्थाओं के स्वास्थ्य को क्षति पहुंचा रहा है। इसके अलावा राजनीतिक संस्थाएं अन्तर्राष्ट्रीय ताकतों एवं एजेंसियों के हाथ की कठपुतली जैसी बन गयी हैं। छोटे देशों की स्थिति लगभग ऐसी हो भी चुकी है, जो अपने अस्तित्व के लिए पूर्णतः विदेशी सहायता पर निर्भर हैं।

हमारे क्षेत्र के ऐतिहासिक अनुभवों ने इस तरह के परिवर्तनों को और जटिल बना दिया है। जाति-व्यवस्था की मौजूदगी, खास कर सामाजिक जीवन में अशुभता और अलगाव, घर और उससे ज्यादा समाज में महिलाओं की गुलामी और उपेक्षा, राष्ट्र-राज्यों के बीच शंका और भय का सम्बंध और दूसरे को दानव करार देने पर टिकी राष्ट्रीयता की धारणा - ऐसी वास्तविकताएं हैं, जो दक्षिण एशियाई समाजों के लोकतंत्रीकरण के लिए बुनियादी चुनौती और खतरे पेश कर रही हैं।

हालांकि पूरी कहानी उतनी अशुभ भी नहीं है। उक्त तमाम बीमारियों और खामियों के बावजूद हमारी राजनीति और समाज में कई स्तरों पर नये संकल्प उभरे हैं। पिछले पांच दशकों के लोकतांत्रिक अनुभवों पर पुनर्विचार व आत्ममंथन की प्रक्रिया चली है और चल रही



है। महिलाओं और दलितों, आदिवासियों और जनजातियों, गरीब और भूमिहीनों के संकल्पों ने वर्तमान संस्थाओं में निहित श्रेष्ठता एवं सीमाएं उद्घाटित कर दी हैं। ज्यादा साझेदारी और सम्मिलित संस्थाबद्ध प्रक्रिया के कुछ अनुभव भी सामने आये हैं।

यह सब दक्षिण एशिया में हमारे समाजों के लोकतंत्रीकरण में लगे विभिन्न कार्यकर्ताओं के बीच स्थायी संवाद-प्रक्रिया की मांग करता है। यह हमारे इतिहास के कई हिस्सों पर पुनर्विचार की भी मांग करता है - सिर्फ यह सोचने के लिए नहीं कि क्या सही किया और क्या गलत किया बल्कि एक भिन्न भविष्य के लिए आशा के ऐसे स्रोत तलाशने के लिए, जो समता, न्याय और स्थायित्व के सिद्धांत पर आश्रित हों।

दक्षिण एशिया और दुनिया में हाल में कई घटनाएं हुई हैं, जिनके इस क्षेत्र की लोकतांत्रिक प्रक्रिया पर दीर्घकालिक असर होंगे। 11 सितम्बर 2001 को अमेरिका के ट्रेड सेंटर पर हमला एवं उसके परिणामस्वरूप अफगानिस्तान में विध्वंस और विश्व व्यापार संगठन का दोहा सम्मेलन संभवतः दो ऐसी प्रमुख घटनाएं हैं, जिनसे दक्षिण एशियाई देशों का राजनीतिक गतिशास्त्र बदल रहा है।

इधर लम्बे युद्धविराम की समाप्ति के बाद नेपाल फिर भीषण हिंसा की चपेट में है। वहां संसद भंग है और चुनाव भी स्थगित है। शाही सेना और माओवादियों के बीच की सशस्त्र भिड़ंत के बीच लोकतांत्रिक संवाद की अन्य सभी प्रक्रियाएं लगभग ठप हैं। बांग्लादेश 2001 के चुनावों के दौरान धार्मिक हिंसा की निकृष्ट वारदातों का साक्षी बना। 13 दिसंबर, 2001 को भारतीय संसद पर हुए हमले ने भारत-पाकिस्तान के बीच के तनाव को कुछ और बढ़ा दिया। पूरे दक्षिण एशिया में दिन-प्रतिदिन महिलाओं के खिलाफ हिंसा में वृद्धि हो रही है। भारतीय किसान आत्महत्या कर रहे हैं। भारत सहित अन्य देशों में कुपोषण के मामले लगातार बढ़ रहे हैं। सैन्य बजट में वृद्धि जारी है। सांप्रदायिक तनाव उभार पर है।

हमलोग सचमुच कठिन दौर से गुजर रहे हैं। हमलोग आज जिन बुराइयों और त्रासदियों के रू-ब-रू हैं, उनके पीछे कई कारक हैं।

अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था पूर्णतः फौजी शक्ति और कार्पोरेट मुनाफे की अनिवार्यता पर टिक गयी है। बहुसंख्यक आबादी के जीवन के लिए निर्णायक सामाजिक हस्तक्षेप के क्षेत्रों से राष्ट्र-राज्यों का मुंह मोड़ना, पर्यावरण-लूट का सिलसिला, गरीबों और अमीरों के बीच बढ़ती विषमता से मानव-संबंधों का अमानवीकरण आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

हम निश्चित रूप से निराशा के दौर से गुजर रहे हैं। लेकिन जैसा कि ग्राम्शी हमें याद दिलाते हैं, 'यही ऐसा समय है, जिसमें क्रांतिकारी आशावाद की जरूरत है।' जो त्रासदियां दरपेश हैं, उनसे बहुत लोगों को असंख्य तरीकों से कई स्तरों पर सक्रिय होने की प्रेरणा मिली है। जो मुद्दे सामाजिक कार्य के दायरे में माने जाते थे, वे अब सबसे ज्यादा राजनीतिक दिखाई दे रहे हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह कि विविध ताकतें प्रतिरोध के एक मंच पर साथ आ रही हैं। यह प्रत्येक देश और संपूर्ण क्षेत्र, दोनों स्तरों पर हो रहा है।

इस संदर्भ में लोकतंत्र को पुख्ता करने के लिए दक्षिण एशियाई 'दृष्टि' आज की सबसे बड़ी जरूरत है। इसकी जिम्मेदारी सिर्फ नागरिक समाज पर नहीं छोड़ी जा सकती। इसको प्रत्येक देश की राजनीति का हिस्सा बनाना होगा। इसके सिवा इसका कोई शॉर्टकट - छोटा रास्ता - नहीं है। क्षेत्र के सभी देशों में विभिन्न राजनीतिक भूमिकाएं निभानेवाले लोगों के बीच स्थायी और सतत् संवाद की प्रक्रिया के जरिये ही दक्षिण एशियाई दृष्टि विकसित की जा सकती है।

दक्षिण एशियाई स्तर पर संवाद के अलावा अब उत्तर-दक्षिण संवाद के एक वृहत्तर गठन की भी जरूरत है। यह पहले भी जरूरी था लेकिन अब यह अनिवार्य हो गया है। यदि किसी को विश्वग्राम की रूढ़ अवधारणा उधार लेनी भी है, तो हम इस तथ्य से आंख नहीं मूंद सकते कि दुनिया में विभिन्न क्षेत्र और लोग अब पहले की अपेक्षा ज्यादा एकता के सूत्रों में आबद्ध हो रहे हैं। हालांकि इस एकता के सम्बंध एकतरफा हैं। इसकी अभिप्रेरणा सीमित और परिणाम भी कमोबेश यंत्रणादायक रहे हैं।

वैश्वीकृत उत्तर - भौगोलिक और राजनीतिक दोनों अर्थों में - एकता का एजेंडा तय कर चुका है। दक्षिण को इसका अनुसरण करना था। लेकिन दक्षिण या तो उत्पादों के लिए बाजार और संसाधनों का कब्रगाह बन चुका है या फिर उत्पादन प्रक्रिया के अवशेष कचरे के लिए कूड़ेदान। फलतः दक्षिण के लोग बहुत बड़ी संख्या में हाशिये की तरफ ठेले जा चुके हैं। लेकिन उत्तर में भी संकट के संकेत नजर आने लगे हैं। यह प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दुनिया की बहुसंख्यक आबादी के लिए घाटे का रास्ता साबित हो रही है।

इस लिहाज से उत्तर-दक्षिण संवाद अत्यंत महत्वपूर्ण है। लोकतंत्र इस संवाद के लिए आधारभूत ढांचा उपलब्ध करा सकता है क्योंकि यही इंसान-इंसान और इंसान एवं प्रकृति के बीच के संबंधों के लिए सर्वाधिक सार्वभौमिक और साथ ही मानवीय मूल्यों को मूर्त रूप प्रदान करता है। सभ्यताओं के बीच संवाद सिर्फ इसी में संभव है।

## लोकतंत्र और अंतर्राष्ट्रीय एकता : दक्षिण एशियाई परिदृश्य

विचार

अमेरिकी दबाव का जवाब है उत्तर-दक्षिण संवाद  
रिस्तो इसोमाकी

वैश्वीकरण का अर्थ है विश्व का अमेरिकीकरण  
रौशन धुंजीभाँय

पूँजीवादी वैश्वीकरण का हिस्सा है कालाधन  
कमलनयन काबरा

उत्तर दक्षिण एका : कुछ चुनौतियां  
विजय प्रताप

विमर्श

## विचार

# अमेरिकी दबाव का जवाब है उत्तर-दक्षिण संवाद

रिस्तो इसोमाकी

दक्षिण एशिया का परिदृश्य बेशक पश्चिम से काफी अलग और ज्यादा जटिल है। पश्चिम में लोकतंत्र बचाने के उद्देश्य से चलाये गये विभिन्न आंदोलन आश्चर्यजनक रूप से समान राजनीतिक विकल्पों के बावजूद विफल हो गये क्योंकि 90 के दशक के दौरान वैश्वीकरण के तर्क ने यूरोप और उत्तरी अमेरिका में लोकतंत्र का गहरा संकट पैदा किया है।

महत्वपूर्ण नीतिगत निर्णय अब विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ.) जैसी पारदेशीय संस्थाओं में किये जा रहे हैं। जनता के लिए आंदोलन की स्वतंत्रता और राष्ट्रीय स्तर पर निर्णय करने की शक्ति कम हो गयी है। अब इसका कोई मतलब नहीं रह गया है कि कौन सत्तासीन है, हमारे यहां किस प्रकार के गठबंधन की सरकार है, कौन सी पार्टी सत्ता के लिए चुनी गयी है क्योंकि सरकार दर सरकार को कमोबेश समान नवउदारवादी नीतियों के लिए कानून बनाना, उनको प्रोत्साहन देना और उनको लागू करते रहना है। ये अब मुक्त व्यापार और निवेश की अंतर्राष्ट्रीय संधियों के अभेद्य जकड़-जामा में बंध गयी हैं। और यह बंधन निरंतर ज्यादा से ज्यादा कसता जा रहा है।

फिनलैंड में अब सरकार बदलावों के लिए पूरी ताकत के साथ आगे बढ़ रही है। उदाहरण के लिए, परमाणु शक्ति के पुनर्निर्माण का मुद्दा, नाटों में यूरोपीय संघीय राज्य की सदस्यता और इसी तरह के अन्य

मुद्दे हैं, जबकि कुछ मत सर्वेक्षणों के अनुसार देश की 70-80 प्रतिशत आबादी इनके सख्त खिलाफ है।

अब जो नये परिवर्तन हो रहे हैं, उनका दलगत राजनीतिक व्यवस्था के स्वास्थ्य पर स्पष्टतः बहुत ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है, क्योंकि सरकार में शामिल दलों के विभिन्न गठबंधन एक समान नीतियां अमल में लाते हैं। पार्टियों के बीच के मतभेद सैद्धांतिक कम हैं, वे सत्ता में अपनी अवस्थितियों द्वारा ज्यादा संचालित होती हैं और अपने आप को सिर्फ नाम भर की ऐसी पार्टियों में ढाल रही हैं जो उनके सदस्यों को सत्ता में कुछ जगह दे-दिला सकें। यह जनता और कार्यकर्ताओं के लिए बहुत ही निराशाजनक है। बहुत से लोग चुनावों में काम करना बंद कर चुके हैं और अपनी सम्बद्ध पार्टियां छोड़ चुके हैं। उन लोगों में अधि संख्य वे हैं, जो कभी अतिवादी, भ्रष्टाचार से मुक्त और सिद्धांततः प्रतिबद्ध समझे जाते रहे हैं। परिणामतः राजनीतिक पार्टियों के भीतर वैचारिक भ्रष्टाचार पैदा हुआ है। अच्छे लोग गैरसरकारी संगठनों (एनजीओ सेक्टर) की ओर रुख करते हैं और पार्टियां ऐसे लोगों को चुनती हैं, जो स्थितियों में ज्यादा बदलाव नहीं चाहते।

धन भी बेशक समस्या का एक हिस्सा है। वैश्वीकरण में इतना अधिक धन फंसा हुआ है कि अब भ्रष्टाचार बहुत बड़े पैमाने पर होता है। 90 के दशक से पहले यह स्थिति नहीं थी। मिसाल के तौर पर यदि आप इन नवउदारवादी नीतियों का समर्थन करते हैं, तो आपके लिए सरकारी क्षेत्र, किसी कंपनी में या कहीं भी बहुत अच्छी तनख्वाह वाली नौकरी पाना ज्यादा आसान है। चयन करने की व्यवस्था में भी आप शामिल किये जा सकते हैं। पश्चिम में वैश्वीकरण की नीतियों के लिए राजनीतिक समर्थन वास्तव में खरीदा गया है। इसका यूरोप में लोकतांत्रिक निर्णय करने की प्रक्रिया पर बहुत ही नकारात्मक प्रभाव पड़ा है।

हम वैश्वीकरण और नवउदारवाद के प्रति दक्षिणपंथी जवाबी प्रतिक्रियाओं की समस्या के भी मुकाबिल हैं। यह ठीक वैसा ही है जैसा कि 20 और 30 के दशक में यूरोप में हुआ था, जब हमने वैश्वीकरण की शुरुआती लहर को देखा था, जिसने बड़े पैमाने पर बेरोजगारी पैदा

की थी, जिसने अंततः बड़ी आर्थिक तबाही की ओर धकेल दिया। आर्थिक संकट ने रोजगार की समस्या को और बदतर स्थिति में पहुंचा दिया और बेरोजगार लोगों के आक्रोश और निराशा को मुख्यतया नाजियों और फासिस्टों के समर्थन में ढाल दिया। इसीका संभाव्य परिणाम था द्वितीय विश्व युद्ध।

मैं नहीं सोचता कि यूरोप में पहले ही जैसा कुछ फिर होगा लेकिन हमारे सामने उसी तरह की स्थिति है। हमारे यहां ऐसे राजनीतिक संगठन हैं, जो इस स्थिति का उपयोग करने में अत्यधिक सक्षम हैं, जैसे कि आस्ट्रेलिया और फ्रांस में विभिन्न दक्षिणपंथी और अति दक्षिणपंथी आंदोलन। इसी तरह के राजनीतिक संगठन अन्य कई यूरोपीय देशों में भी हैं।

यूरोप आर्थिक गरमबाजारी की बुलंदी पर है लेकिन हमारी स्थिति ऐसी है, जो सिर्फ मंदी के दौरान होती है - वर्तमान संपन्नता के दौर में भी बढ़ती बेरोजगारी और असुरक्षा की स्थिति, जो राजनीतिक दृष्टि से खतरनाक है।

हम लोग कई साझा चुनौतियों का सामना कर रहे हैं लेकिन इनमें वैश्विक एका और वैश्विक सहयोग के लिए पर्याप्त अवसर भी है। एक अवसर तो बिल्कुल स्पष्ट है - विश्व व्यापार संगठन के तहत व्यापार एवं निवेश के और अधिक उदारीकरण पर रोक की कार्रवाइयों का आयोजन करना। पश्चिम में जारी आंदोलन पहले ही दक्षिणी देशों के आंदोलनों से महत्वपूर्ण सहयोग प्राप्त कर चुका है।

सिएटल में क्या हुआ? मीडिया ने अक्सर यही कहा कि सिएटल में विश्व व्यापार संगठन में विस्तृत पहलकदमियों का यह नया चक्र पश्चिमी देशों द्वारा आंदोलनों के जरिये प्रदर्शित भारी विरोध के कारण सफल नहीं हुआ। लेकिन यह सही नहीं है। हमने लड़ाई नहीं जीती। हम एक भी पश्चिमी सरकार को अपनी लाइन बदलने के लिए प्रेरित करने में समर्थ नहीं हो पाये। आयोजक जिस तरह से चाहते थे उस तरह सिएटल की बैठक सम्पन्न नहीं होने का मुख्य वजह यह थी कि वहां भारत और तीसरी दुनिया के अन्य देश भारत के नेतृत्व में उपस्थित थे।

भारत सरकार कृतसंकल्प नहीं थी, लेकिन उसने जो किया वह स्थिति का संतुलन बदलने के लिए काफी था। तभी सिएटल में इतनी बड़ी जीत संभव हुई।

मैं तो कहूंगा कि यदि भारत के किसान और अन्य आंदोलन भारत सरकार को कृषि व्यापार के और अधिक उदारीकरण के खिलाफ स्टैंड लेने के लिए सचमुच समर्थ हों, तो ऐसी बात पुनः होगी, क्योंकि यूरोपीय संघ और अमेरिका तभी आगे के उदारीकरण के अपने पैकेज के जरिये दबाव बना पायेंगे, जब वे साथ मिलकर काम करें। यह कृषि नीति उन्हें पूरी दक्षता से बांट रही है।

हम फिनलैंड में सार्वजनिक सेवाओं के निजीकरण, सार्वजनिक कंपनियों के निजीकरण के खिलाफ अभियान चला रहे हैं, और इस अभियान में सरकारी कंपनियों की सभी ट्रेड यूनियन शाखाएं शामिल हुई हैं। उदाहरण के लिए, ट्रेड यूनियनों और कई अन्य गैरसरकारी संगठनों का प्रस्ताव है कि हमें यह खोज करनी चाहिए कि क्या पूरी दुनिया की सरकारी कंपनियों का एक तरह का गठबंधन बनाकर बहुराष्ट्रीय कंपनियों और अमेरिका द्वारा संचालित आर्थिक वैश्वीकरण को कोई चुनौती देना संभव है? उत्तरी देशों (नॉर्डिक कंट्रीज), भारत, चीन, रूस आदि देशों की सरकारी कंपनियां आर्थिक सहयोग और नई और पर्यावरण की दृष्टि से टिकाऊ तकनीक के विकास के लिए एकजुट हो सकती हैं। हमारे अपने मामले में, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की वृद्धि ने सरकारी कंपनियों की सापेक्ष अक्षमता के आरोप को हवा दे रखी है। एकजुटता के उक्त रास्ते से इस ट्रेड का भी मुकाबला किया जा सकता है।

पश्चिम में वैश्वीकरण विरोधी गतिविधियों के सपनों में एक, शायद सबसे महत्वपूर्ण सपना, गांधी का पुराना विचार है। गांधी ने इसे ग्राम स्वराज कहा था - स्वावलम्बी या सापेक्षया स्वावलम्बी स्थानीय अर्थव्यवस्था का विचार। यही अब पश्चिम में बड़े पैमाने पर शुरू हो रहा है। यह स्थानीय भरण-पोषण की अर्थव्यवस्थाओं के निर्माण करने मात्र का विचार नहीं है, बल्कि सापेक्ष रूप से स्वतंत्र ऐसी अर्थव्यवस्थाओं

के निर्माण का है, जो विश्व अर्थव्यवस्था से प्रभावित होने के साथ उसे प्रभावित भी करेगी, लेकिन जरूरी होने पर वे अपने अनिवार्य कार्य-व्यापार का अपने ही संसाधनों के जरिये निष्पादन कर सकती हैं, जैसे स्थानीय आत्मनिर्भर ऊर्जा प्रणाली, बैंकिंग और वित्तीय व्यवस्था का निर्माण।

मैं दक्षिण एशिया में हिन्दू-मुसलमान सम्बंधों के प्रसंग के साथ अपनी बात समाप्त करना चाहता हूँ क्योंकि मैं यह बताना चाहता हूँ कि यूरोप के किसी भी संघर्ष के लिए यह अत्यंत महत्वपूर्ण है कि दक्षिण एशिया में क्या होता है। इसकी वजह अमेरिकी सरकार की वर्तमान भू-राजनीतिक रणनीति भी है। अमेरिका की भू-राजनीतिक रणनीति हटिंगटन का 'सभ्यताओं के संघर्ष' का ही दर्शन है और अमेरिकी सरकार मुख्यतः चीन और इस्लाम के खिलाफ दुनिया के देशों का एक बड़ा गठजोड़ बनाने का प्रयास कर रही है। इसके लिए उसे एक उत्कृष्ट और शुद्ध हिन्दू राष्ट्र के रूप में भारत की आवश्यकता है, जिसका वह उस गठजोड़ का महत्वपूर्ण हिस्सा बनाकर इस्तेमाल कर सके।

लेकिन यदि दक्षिण एशिया के लोग दक्षिण एशियाई के रूप में अपनी क्षेत्रीय पहचान बना पाने में समर्थ होते हैं, तो यह योजना धरी रह जायेगी, क्योंकि पूरी इस्लामी दुनिया के भीतर दक्षिण एशिया मजबूत मध्यमार्गी प्रेरणा बनकर उभरा है। इसका अर्थ है कि अमेरिका को विश्व पर अपना आधिपत्य बनाये रखने के लिए एक नये प्रकार के बहुध्रुवीय शीतयुद्ध की जरूरत है। लेकिन यदि इस तरह का शीतयुद्ध नहीं हो सका, तब संभवतः यही होगा कि अमेरिका के विश्व पर आर्थिक प्रभुत्व के खिलाफ इस्लामी देशों सहित भारत, चीन और यूरोप का बहुत व्यापक गठबंधन बनेगा।

## वैश्वीकरण का अर्थ विश्व का अमेरिकीकरण!

रोशन धुन्जीभाँय

वैश्वीकरण के प्रथम और असली एजेंट यूरोपियन थे। बहुत सी घटनाएं, जिनके होने की हम आशंका कर रहे हैं, यूरोप में पहले ही हो चुकी हैं। जब श्रमिकों की मांगें बढ़ीं या वे नितांत बागी हो गये, तो कारखाने कई शहरों से हटा दिये गये और उन्हें वहां ले जाया गया, जहां अत्यधिक गरीबी थी, जहां लोग शहरों को मौत के मुंह में धकेलने में अपनी भूमिका के मद्देनजर खुश थे।

यूरोप में बेरोजगारी और गरीबी तेजी से बढ़ रही है। मैं हर साल, जब अपने सालाना दौरे में जर्मनी जाती हूँ, देखती हूँ। जहां मैं पिछले 35 वर्ष रही, उस नगर कोलोन में लगभग उतने ही भिखारी हैं, जितने कि भारत, श्रीलंका या पाकिस्तान के किसी नगर में है। पहला भिखारी, जो प्रकट हुआ, वह बहुत खुशमिजाज भिखारी था, जो बहुत अधिक मात्रा में शराब (रेड वाइन) चढ़ाये हुए था। उसे भिखारी से ज्यादा जिंदा तमाशा माना गया।

दुर्भाग्यवश, अब वहां इस तरह का कोई नजारा नहीं रहा। वे भिखारी लोग अब अपने सामने एक छोटी सी नोटिस लटकाए रहते हैं, जिसमें लिखा होता है - 'मैं अपने काम से प्रेम करता हूँ। इस या उस कारण से मेरी फ़ैक्ट्री बंद हो गयी। मैं सामाजिक सुरक्षा सेवा के जाल से इस-इस वजह से बाहर निकल आया।' ये सचमुच में ठोस सामाजिक

कारक हैं, जिनका वे उल्लेख करते हैं और उनमें से अधिकांश किसी न किसी प्रकार के वैश्वीकरण के परिणाम हैं।

सिर्फ गरीब देश वैश्वीकरण से प्रभावित नहीं हो रहे हैं। यह विकासशील देशों के बीच की लड़ाई भी है। मैं इस बात से सहमत हूँ कि वैश्वीकरण - कम से कम वैश्वीकरण का वह हिस्सा, जो खतरनाक है - को विश्व के अमेरिकीकरण के रूप में देखा जाना चाहिए। इसमें अमेरिकी विचार और जीवन पद्धति को पूरी दुनिया पर अधिक से अधिक लादना शामिल है, क्योंकि इससे खरीद-बिक्री आसान हो जाती है।

यह साम्राज्यवाद का ही एक रूप है क्योंकि निर्णय कहीं और किये जाते हैं और क्षेत्र से बाहर ले जाये जाते हैं। अब यही लड़ाई विकासशील देशों के बीच है, यह उपभोक्ता वस्तुओं के लिए लड़ाई है। यह कुछ हद तक नैतिकता की भी लड़ाई है। अमेरिका और यूरोप के बीच आनुवंशिक तरीके से संसाधित खाद्य (जेनेटिकली ट्रीटेड फुड) को लेकर झगड़ा चल रहा है। जिसे अमेरिकियों ने घोषणा किये बगैर बाजार में उतारना चाहा और आप नहीं जान पायेंगे कि आप जो खा रहे हैं वह जेनेटिकली ट्रीटेड फुड है या नहीं, यूरोप में निषिद्ध है। वे इस तरह के अमेरिकी सामान को बाजार में नहीं आने दे रहे थे। तब शाब्दिक और व्यापारिक युद्ध चला। यह युद्ध जारी रहेगा और लगातार बढ़ेगा क्योंकि यह शब्दशः अमेरिकी आधिपत्य के लिए संघर्ष है। ऐसा नहीं है कि यह सिर्फ वहीं हो रहा है। यह सब जगह हो रहा है। मैं सोचती हूँ, यह एक खास तरह की अंतर्राष्ट्रीय एकता का आधार है क्योंकि हम देख रहे हैं कि वही बात कई जगहों पर दोहराई जा रही है। हमारे खुद के उत्पादों के लिए बाजार बंद हो रहे हैं। और अमेरिकी वस्तुओं के लिए खुल रहे हैं।

इन रुझानों से लड़ने के लिए लोकतांत्रिक मूल्यों और मानवाधि कारों की हमारी आपसी समझदारी के आधार पर एक बड़ा लोकतांत्रिक नेटवर्क बनाना जरूरी है। एकता के लिए किसी भी बड़े आंदोलन को आकार देना बहुत कठिन है क्योंकि तमाम आंदोलनों के अपने छोटे-छोटे

अहं होते हैं, वे अपनी छोटी-छोटी पुरानी सीमाएं और काम करने के पुराने तरीके छोड़ना नहीं चाहते। लेकिन मैं इतना जरूर कह सकती हूँ कि यह जिंदा रहने के लिए अनिवार्य है। यह सिर्फ उपभोक्ता वस्तुओं का सवाल नहीं, बल्कि पारिस्थितिकी का भी है। यदि आप अंतर्राष्ट्रीय पारिस्थितिकीय एकरारनामों और बैठकों के इतिहास पर नजर डालें, तो आप पायेंगे कि अंत में लगभग हमेशा ही अमेरिका उन समझौतों पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर देता है क्योंकि उसे डर लगता है कि इससे उसका मुनाफा रूकेगा। किंचित नाटकीय ढंग लेकिन सही-सही पेश करें तो इसका मायने यह होगा कि हम अपने ग्रह-धरती के अस्तित्व के लिए लड़ रहे हैं और जहां तक मैं जानती हूँ, हमारे पास सिर्फ यही एक ग्रह है। मैंने सभी संगठनों से निवेदन किया है कि उनके जो भी मतभेद हों, कुछ व्यापक मूल्यों के आधार पर एक बड़े मंच पर आने का प्रयास करें ताकि उक्त स्थिति का विरोध करने के लिए गठबंधन तैयार करने में सक्षम हों।

यदि आप स्थिति की वास्तविकता को परखें तो, दक्षिण एशियाई एकता सभी क्षेत्रों में नितांत जरूरी दिखेगी। हमें दक्षिण एशियाई देशों की आपसी समस्याओं को सुलझाने से शुरू करना चाहिए क्योंकि क्षेत्रीय एकजुटता ही छोटा सा भी प्रतिरोध दर्ज करने का एकमात्र रास्ता है। यह तो आप सभी जानते हैं कि पिछले महीनों में सार्क (दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय संगठन - दक्षेस) के लिए अपनी नियमित बैठकें कराना भी असंभव हो गया है। वे बातों के सिवा ज्यादा कुछ नहीं करते। यह समस्या तो है लेकिन एकजुटता के काम के लिए फिलहाल यही एक संगठन है। जब तक कोई और विकल्प सामने नहीं आता, तब तक हमें इसे ही मजबूत करना होगा। हमें शायद अपने आप को पहले दक्षिण एशियाई मानना होगा और तब भारतीय, श्रीलंकाई या नेपाली या और कुछ।

आप मेरा पासपोर्ट देखें, उसके सबसे ऊपर लिखा है - 'यूरोपियन यूनियन' और बिल्कुल नीचे देश का नाम है। मैं दक्षिण एशिया में भी यही देखना चाहती हूँ।

## पूँजीवादी वैश्वीकरण का हिस्सा है कालाधन

कमलनयन काबरा

हमारे दिमाग में लोकतंत्र, अर्थव्यवस्था के कार्य-व्यापार और समाज की गतिशीलता की पहले से एक बनी-बनायी छवि रहती है। वास्तव में जो हो रहा है उस पर नहीं, बल्कि खास मुहावरों और खास सिद्धान्तों में ढले कुछ रूढ़ आकारों पर आधारित। इसमें अनिवार्यतया ऊंची डिग्री का रूढ़िवाद होता है, इसलिए मैं मानना चाहता हूँ कि यह किसी अर्थव्यवस्था, समाज या लोकतंत्र का सामान्यतः आदर्शवादी चित्रण होता है।

लोकतंत्र का मतलब है - कुछ खास किस्म के अनुशासनों की स्थापना। वास्तव में होता यह है कि जिस तरीके से विचारों का उत्सर्जन हुआ होता है, उससे ऐसी स्थितियाँ बनती हैं, जहाँ प्रत्यक्ष मॉडल और रूढ़ मॉडल वास्तविकता की भाषा में एक दूसरे से संवाद नहीं करते। दोनों के बीच के रिश्ते की गाँठ ढीली और अशुद्ध सी दिखती है।

उदाहरण के लिए, जब हम अर्थव्यवस्था की बात करते हैं तो हम पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की बात कर रहे होते हैं, जो माँग और आपूर्ति की अमूर्त ताकतों से संचालित होती है। वही तय करती है कि संसाधनों का कैसा विनियोजन होगा, कौन क्या ले जायेगा आदि-आदि! लेकिन हम ये सवाल नहीं पूछते कि आपूर्ति पर किसका नियंत्रण है? कि माँग के तरीकों पर किसका नियंत्रण है? कि कौन निवेश करता है? कि संसाधनों की बुनियाद में कौन सी स्थायी विधि है? कि वह कौन सी प्रारंभिक स्थिति है जिससे वह प्रकट होती है?

इसी तरह, जब हम लोकतंत्र की बात करते हैं, हम सोचते हैं कि यह इस तरीके से चलेगा, जिसमें हर व्यक्ति की आवाज को बराबर की अहमियत और एक जैसा वजन हासिल होगा। मुझे लगता है ये विचार न सिर्फ विश्लेषणात्मक दृष्टि से गलत हैं, बल्कि ऐतिहासिक दृष्टि से - यह ज्यादा महत्वपूर्ण भी है - तथ्य से परे हैं।

हममें लोकतंत्र की जिस तरह की समझ होती है और कुछ खास चीजों को पाने के लिए हम उसे जो महत्व देते हैं, यह अपेक्षाकृत नयी परिघटना है। और, किसी अर्थव्यवस्था की अवधारणा भी ऐसी ही होती है। इसे जनता के लिए आजीविका पैदा करने के तरीकों के रूप में स्वीकार किया जाता है। ऐसी आजीविका, जिसमें जनता अपनी भागीदारी का वाजिब हिस्सा पाती हो और जो पुनरुत्पादक होती हो, ताकि व्यवस्था चलती रहे। इसलिए यह समाज, शासक, संस्कृति को स्थायित्व प्रदान करती है।

आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि विभाजनों से पैदा होने वाली समस्या से इतर जो कठिनाई पैदा होती है, वह कालांतर में अर्थव्यवस्था के प्रति बनने वाली समझ से जुड़ी होती है। इस समझ में होती है अर्थव्यवस्था की मुख्यधारा की वर्चस्ववादी दृष्टि। उसके अनुसार अर्थव्यवस्था अपने आप में ऐसा स्वतंत्र और स्वायत्त क्षेत्र है, जो बाकी पूरी प्रणाली - संस्कृति, राजनीति, विचार या कहीं पूरी अधिरचना (सुपरस्ट्रक्चर) - का निर्धारण करता है।

सामाजिक ताने-बाने से बुनी अर्थव्यवस्था की लम्बी परंपरा रही है, जो समाज से अलग नहीं, बल्कि समाज का अभिन्न हिस्सा होती है। इसलिए समाज के रू-ब-रू अर्थव्यवस्था की स्वायत्तता का सवाल, अमूर्तता के स्तर पर भी, गलत प्रतिपादन है। आप यदि समाज विज्ञान या किसी भी विज्ञान में गलत सवाल पेश करते हैं, तो आपका जवाब आपको सार्थक दिशा में नहीं ले जायेगा।

रोजी-रोटी किसलिए? समता और समतावादी समाज के लिए। लेकिन हम आय की समानता, परिसंपत्तियों की समानता, अवसरों की समानता की सीमाओं में उसकी बात करते हैं। अवसर किसके लिए?



किस तरह की परिसम्पत्तियां? किसके लिए आय? आम तौर पर इस तरह के सवाल नहीं पूछे जाते। हम मान बैठते हैं कि उत्पादन का जो भी ढांचा आज विद्यमान है, वही बना रहेगा इसलिए सिर्फ यही काम रह जाता है कि उसका समान वितरण हो।

इसीमें विरोधाभास है। उत्पादन की किसी भी व्यवस्था में न सिर्फ आर्थिक सम्बन्धों का सिलसिला होता है, बल्कि उसमें टेक्नालॉजी होती है, उसमें सत्ता-सम्बन्ध भी होते हैं। तमाम सामाजिक सम्बन्ध अनिवार्यतः सत्ता के दायरे में होते हैं, और वे ही समाज और अर्थव्यवस्था, शासन, संस्कृति और न्यायशास्त्र को जोड़नेवाली कड़ियां हैं। उनका अलग-अलग अस्तित्व होना, उनको अवास्तविक बनाता है। यूं समझने के लिए वे एक ही प्रणाली के अलग-अलग साधन कहे जा सकते हैं। मूलतः वे एक दूसरे से जुड़े हुए होते हैं।

विभिन्न निहित स्वार्थों में ज्ञान के उत्पादन से जुड़ा स्वार्थ और ज्ञानकर्मियों का स्वार्थ भी महत्वपूर्ण है - उतना ही महत्वपूर्ण जितना कि भौतिक उत्पादन। लेकिन हम आमतौर पर इसे भूलने लगते हैं। इसलिए यदि हम यह पहचानें कि एक वास्तविक, जिन्दा, फलता-फूलता समाज बार-बार विभिन्न रूपों में - परिवर्तन की प्रक्रियाओं के जरिये - अपनी पुनर्रचना करता है, तब यह समझ में आयेगा कि अर्थव्यवस्था में ऐसी स्थितियां होती हैं जो असमान पहुंच, भयंकर असमानता, असमान समझ, असमान भागीदारी पैदा करती हैं। तब हम यह भी कह सकते हैं कि पूरा इतिहास समाज में बहुसंख्यक लोगों के अशक्तीकरण और थोड़े से लोगों के सशक्तीकरण का इतिहास है।

मैं देखता हूं कि विकसित और अविकसित, पूर्ण उद्योगीकृत और कम उद्योगीकृत, पिछड़ा और उन्नत आदि शब्द तब निरर्थक हो जाते हैं जब अविकसित के लिए विकसित की तरह बन जाना, कम उद्योगीकृत के लिए ज्यादा उद्योगीकृत बन जाना आदि-आदि ही लक्ष्य बन जाते हैं। लेकिन समस्या यह है कि विकास, उद्योगीकरण आदि को आज हम जिस तरह से बरत रहे हैं, वही प्रक्रिया बहुसंख्यक लोगों के अशक्तीकरण का कारण बनती है। अर्थव्यवस्था, समाज और लोकतंत्र के बीच बेहद

अन्यायपूर्ण सम्बन्ध बन जाते हैं, जहां अशक्तीकरण की स्थितियां भी स्वाभाविक मान ली जाती हैं।

जब कभी हम पाते हैं कि वास्तविक मॉडल और विधिसम्मत मॉडल में फर्क है, तो हम इसे अवैध, गंदा और अवांछित मान लेते हैं। उदाहरण के लिए, कालेधन की अर्थव्यवस्था सामान्य परिघटना के रूप में तब सामने आती है, जब आप बाजार के प्रचलित कानूनों को किसी प्रणाली के कार्य-व्यापार के चलने के तरीके के रूप में स्वीकार नहीं करते - जैसे आप टैक्स का भुगतान करने के लिए अपनी आमदनी घोषित नहीं करते या उत्पादन की प्रकृति, उत्पादनों की गुणवत्ता, उत्पादन की इकाई का स्थान, टेक्नालॉजी का नियंत्रण, दुर्घटनाओं की रोकथाम, सुरक्षा, पर्यावरण की समुचित देखभाल आदि के बारे में कुछ नहीं बताते। यह सिर्फ न्यायशास्त्र के अर्थ में नहीं, बल्कि मान्य मानदंडों और आचरण के संदर्भ में भी कानूनी सवाल बनता है। जब आप मान्य मानदंडों और आचरण को छोड़ देते हैं, तभी माना जाता है कि यह काले धन की अर्थव्यवस्था है। कि यह गैरकानूनी है। कि यह गुप्त अर्थव्यवस्था है।

लोकतंत्र के बारे में भी यही बात है। बहुत सारे लोग विपन्न हैं और लोकतंत्र में उन्हें, कम से कम विधिसम्मत राजनीतिक स्तर पर, सरकार चुनने के बराबर के अधिकार प्राप्त हैं। लेकिन सरकार चुनने का अर्थ यह नहीं है, खासकर भारत जैसे विशाल देश में, कि उनके हाथ में नीति-निर्धारण और कई महत्वपूर्ण और विशिष्ट मामलों में फैसला करने का अधिकार है। सो 'मालिक-एजेन्ट' मुखिया-दलाल का सम्बन्ध उभरता है - कि निर्वाचित प्रतिनिधि एजेन्ट और जनता 'मालिक' है। उसमें कुछ हद तक जवाबदेही होती है - कम से कम हर चौथे या पांचवें साल, जब उनको चुनाव का सामना करना पड़ता है।

लेकिन स्थिति तो यह है कि संसाधनों का वितरण असमान है, क्षमताएं असमान हैं और अधिकारों के बंटवारे में भी असमानता है। यही वह स्थिति है, जिसमें वर्तमान सत्ता-संतुलन, मौजूदा प्रभुत्ववादी केन्द्र हजारों साधनों का उपभोग करना चाहते हैं ताकि अपनी सत्ता को

स्थायित्व दे सकें। इसीसे ऐसी स्थिति पैदा हुई, जहां हमने विधिसम्मत लोकतंत्रों, खोखले लोकतंत्रों को बेनकाब किया, लेकिन उक्त विषमताओं की जड़ों, अशक्तीकरण की जड़ों की पहचान करना छोड़ दिया।

कालेधन की अर्थव्यवस्था सत्ता के असमान बंटवारे, असमान भागीदारी की सबसे मुखर अभिव्यक्ति है, जो अर्थव्यवस्था एवं शासन दोनों में नजर आती है। पिछले 500 सालों की विरासत के कारण दुनिया कई समूहों में बंट गयी है। दुर्भाग्यवश सशक्तीकरण, अशक्तीकरण, विकास और अपूर्ण विकास आदि पर बहस के लिए हम देश को इकाई मानते हैं। अन्तर्राज्यीय असमानता और अन्तर्राज्यीय अशक्तीकरण को अक्सर भुला दिया जाता है या फिर उन्हें अलग-अलग खानों में बांट दिया जाता है।

नशीले पदार्थों की तस्करी, हथियारों का चलन, लोगों की एक जगह से दूसरी जगह अवैध आवाजाही, पूंजी यानी वस्तुओं - उत्पादन सहित ज्ञान और सूचनाओं - का अवैध अंतरण, पाइरेसी (डकैती) जैसी गैरकानूनी गतिविधियां बड़े पैमाने पर चल रही हैं। लम्बे समय से हम देख रहे हैं कि समुचित सीमा-शुल्क और दस्तावेजों के जरिए औपचारिक वैध व्यापार के अलावे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बहुत बड़े पैमाने पर ऐसे कार्यकलाप जारी हैं, जो कानून सम्मत नहीं हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि इन औपचारिक-अनौपचारिक, वैध-अवैध, गुप्त और खुली गतिविधियों में बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध हैं।

युनाइटेड स्टेट्स इन्फार्मेशन सर्विसेज (यूएसआइएस) - संयुक्त राष्ट्र सूचना सेवाएं) ने एक शोधकर्ता द्वारा तैयार परिपत्र जारी किया है, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हाथ की सफाई की शिकार पूंजी के कई-कई स्रोतों और लोगों द्वारा अवैध सम्पत्ति का अर्जन, कमाई और सीमा पार भेजे जाने के तरीकों की पहचान की गयी है। यह समुद्र तटीय बंदरगाहों के विकास से बेहद लाभदायक बन गया है। लेकिन नयी बात यह है कि बैंक इस धन का - जो अरबों-खरबों डालर के रूप में जमा होता है - क्या करते हैं? निवेश न हो तो यह उनके लिए बेकाम है। यह तो कुछ समुद्रतटीय बंदरगाहों की 200 से 2000 लोगों की

अर्थव्यवस्था है। वे उन बैंकिंग सेवाओं के लिए जो कुछ करते हैं, उसके लिए छोटा सा शुल्क प्राप्त करते हैं।

होता यह है कि इस धन का वस्तुतः अमेरिकी और सामान्यतः अन्य आईएसडी अर्थव्यवस्थाओं में निवेश किया जाता है। इसका आकलन बताता है कि दोहन किये गये कुल धन का अधिकांश विपन्न देशों, तीसरी दुनिया से आता है और समुद्रतटीय टैक्स के ठिकानों पर जमा होता है। यह राशि दक्षिण देशों को विकास के लिए सरकारी स्तर पर मिलनेवाली वैध मदद और एमडीआई से अधिक होती है। वह हमारा अपना धन है जो हमारे अपने समाज के उस हिस्से, हमारी अर्थव्यवस्था के उस हिस्से का है, जो पूरी अर्थव्यवस्था का संचालन करता है, राजनीति को नियंत्रित करता है, जो संस्कृति के स्वरूपों का निर्धारण करता है, जो मशहूर कलाकारों, लेखकों और चित्रकारों को पुरस्कार प्रदान करता है। वे यह धन हर चीज का दुरुपयोग करते हुए बड़े पैमाने पर करवंचना, बेहिसाब चालान, स्थानांतरण, उपलब्ध टैक्स व निर्यात प्रोत्साहनों के जरिये उगाहते हैं। बहुत बड़ी राशि बाहर निकलती है और उसका सबसे बड़ा हिस्सा अमेरिका की झोली में समा जाता है। धन वहीं जाता है, जहां उसकी मांग होती है, जिसकी आप आपूर्ति कर सकते हैं और बदले में ज्यादा से ज्यादा कमाई कर सकते हैं।

काले धन की अर्थव्यवस्था वैश्वीकरण का हिस्सा है। यह पर्यावरणीय प्रदूषण जैसा भी है, जिसे भौगोलिक सीमाओं को पार करने के लिए किसी पासपोर्ट या वीजा की जरूरत नहीं होती। काले धन की अर्थव्यवस्था का अनिवार्य तत्व यह है कि अगर भुगतान संतुलन के खातों में कोई गड़बड़ी न हो या किसी निर्दोष का नाम न खुले, तो आपके पास के औपचारिक (वैध) मॉडल को भी पता नहीं चल पाता और पूंजी उड़नछू हो जाती है।

यू अर्थव्यवस्था का अर्थ होता है रोजगार, विकेंद्रित उत्पादन प्रक्रिया, शिक्षा और कौशल-निर्माण के जरिये उसमें भागीदारी। और भी कई तरीके हैं, जिनके जरिये लोग अर्थव्यवस्था में भागीदारी कर सकते हैं। और, अगर कहें कि यह भागीदारी राजनीतिक प्रक्रिया में हिस्सदारी

से संभव होती है, तो उन्हें कम से कम एक मान्य धरातल पर व्यवस्था (प्रणाली) में परिवर्तन का मौका मिलता है, जो सशक्त और अशक्त के बीच का विभाजन पाट सकता है, बशर्ते उसकी जड़ों की पहचान हो और उससे सम्बद्ध जानकारी उपलब्ध हो। लेकिन वर्तमान संदर्भ में तो खुद वह ढांचा ही उस प्रकार की प्रक्रियाओं को रोकता है, जिसने समाज में सशक्त और अशक्त तबके पैदा किये हैं।

आधुनिक टेक्नालॉजी इस प्रकार की है कि बड़े-बड़े संगठन पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के औपचारिक मॉडल के महत्वपूर्ण सांगठनिक रूपों में ढल चुके हैं - कंपनी और कार्पोरेट इकाइयों के रूप में। सभी संस्थापक (प्रमोटर) अपनी कंपनी को इसी तरह के आर्थिक संगठन के रूप में चालू करते हैं। उसी के आधार पर वे वित्तीय संस्थाओं की बदौलत शेयर होल्डरों से धन उगाहते हैं, कर्ज आदि पाते हैं। लेकिन प्रमोटर और शेयर होल्डरों के बीच विश्वास का सम्बंध होता है।

समाज के संसाधन उनको इसलिए उपलब्ध कराये जाते हैं, क्योंकि उन्होंने पहलकदमी की और अपनी उद्यम-क्षमता का प्रदर्शन किया है। लेकिन आपको जो जानकारी मिलती है, उसका क्या आधार है? वह धन आता कहां से है? कुछ अपराधियों के जरिये, जिन्होंने कंपनी चालू की और ढेर सारी पूंजी जमा की और स्टॉक मार्केट में लगा दिया! वास्तव में कंपनी के पंजीकृत होने के पहले ही उनको पूर्वसूचीकरण के नाम पर धन मिल सकता है। पूंजी का अंशदान हो सकता है और ऐसा बड़े पैमाने पर हो भी रहा है। उनको वह धन सामान्य कानूनी ढांचे में उपलब्ध हो जाता है, जो राजनीतिज्ञों, नौकरशाहों, व्यवसायियों, अपराधियों द्वारा अवैध तरीके से अर्जित किया जाता है।

यह जानने का तो कोई जरिया नहीं है कि निवेशकर्ता कौन हैं? वे गुमनाम होते हैं। निजी सम्पत्ति के अधिकार के तहत गोपनीयता एक महत्वपूर्ण शर्त होती है। अन्य सवाल भी हैं। उदाहरण के लिए, आप उसे कैसे संचालित करते हैं? आप के पास कौन सी टेक्नालॉजी है? उत्पादन-तंत्र की स्थापना के लिए खरीदे गये भूखंड को आप कैसे अर्जित करते हैं? आप वह किससे खरीदते हैं? उसकी कीमत क्या है? दो अलग-अलग शेयर होल्डरों के खातों में क्या दर्ज किया गया है?

बड़ी कार्पोरेट इकाइयां, प्रमोटर कैसे एक कंपनी को चालू करते हैं और कैसे उत्पादन करते हैं? जो लोग शेयर खरीदते हैं, उन्हें भी सामान्यतः इन बातों की जानकारी नहीं होती।

सरकार यह जान सकती है। लेकिन वे जितना बताते हैं, उससे हजार गुना छिपाते हैं। सो आप पाते हैं कि यह निवेशक और उपभोक्ता के बीच बिखरी हुई वृहद् उत्पादन प्रक्रिया है। यह ऐसी स्थिति है, जिसमें उपभोक्ता, निवेशक, कर्मचारी, प्रबंधक के पास यह जानने का कोई जरिया नहीं होता कि आखिर इन संसाधनों का इस्तेमाल कैसे होता है? अब यदि इन कार्पोरेट इकाइयों को सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में तब्दील कर दिया जाये, तो स्थितियों में इस मायने में थोड़ी सुधार की गुंजाइश दिखती है कि संसद में सांसद (जन प्रतिनिधि) सवाल पूछते हैं। लेकिन तब भी विश्वास का वही रिश्ता कायम रहता है - चंद लोग या शक्तिशाली लोग समाज के वृहद् संसाधनों को नियंत्रित करते हैं और बहुसंख्य आबादी, जिसके खून-पसीने और आंसुओं से ये संसाधन पैदा होते हैं, के पास यह जनने का कोई जरिया नहीं होता कि उन संसाधनों का कैसे इस्तेमाल किया जा रहा है।

महत्वपूर्ण बात यह है कि जो कुछ हो रहा है, उसका - तमाम संसाधनों की स्पष्ट जानकारी के साथ - वैधानिक स्तर पर खुलासा करने की संस्थागत व्यवस्था होनी चाहिए। सभी गोपियों (पत्ते!) सामने हों। यह सिर्फ सरकार के लिए जरूरी नहीं है। उससे कहीं ज्यादा जरूरी बड़े संस्थानों के लिए है। कार्पोरेट और सार्वजनिक उत्पादन प्रणाली के रूप में स्थापित इन्हीं वृहद् संगठनों में सत्ता का केंद्रीकरण होता है।

काले धन की इस अर्थव्यवस्था की मुखर अभिव्यक्ति - सबसे सशक्त अभिव्यक्ति - है करवंचना। ऐसे अशक्त और गरीब देश बहुत कम हैं, जो यह कहने की स्थिति में हैं कि उनके यहां ऐसी कर प्रणाली है, जो प्रगतिशील है, जिसके तहत सार्वजनिक हित और सामाजिक खपत के लिए अनुपाततः अधिक हैसियतवाले लोग अधिक टैक्स चुकता करते हैं और कम हैसियतवाले कम टैक्स देते हैं। हकीकत यह है कि संसाधनों में उनका हिस्सा कम होता है जो अशक्त हैं और उनका ज्यादा होता है जो पहले से सशक्त हैं। यह सब सामाजिक सम्बंधों के

व्यापक नेटवर्क पर निर्भर है, जो जनता की पहुंच, भागीदारी और उस तक पहुंचनेवाला लाभांश तय करता है।

सामाजिक सम्बंधों का ताना-बाना ऐसा होना चाहिए, जिसमें अशक्त लोगों की पहुंच, भागीदारी और लाभ का हिस्सा बढ़े तथा पद-प्रतिष्ठा और लाभ का बड़ा हिस्सा लेनेवालों पर दायित्व का बोझ बढ़े, ताकि यह धीरे-धीरे सुधार की प्रक्रिया बने - उत्तरोत्तर सुधार की प्रक्रिया बने।

मेरी बुनियादी सोच यही है कि सामान्यतः विकेंद्रित व्यवस्थाओं में ही लोग अपनी इच्छाओं को सही ढंग से अभिव्यक्त कर पाते हैं। लेकिन वर्तमान व्यवस्था में सिद्धांतकार तय करते हैं कि उनके लिए क्या अच्छा है। भारत में अधिसंख्य लोग निरक्षर हैं और उनको अपने निवास स्थान से 45 किलोमीटर के घेरे के बाहर की दुनिया की पहचान न के बराबर होती है। फिर भी वे अपने परिवार, अपनी जिंदगी के बारे में युक्तिसंगत फैसला करते हैं। ऐसी स्थिति में अगर उनको सजग किया जाये, वांछित सूचना उपलब्ध करायी जाये और ऐसे ढांचे विकसित किये जायें, जिसमें राज्य संचालन की प्रक्रियाएं दीर्घ काल तक सत्ता के बंटवारे में सापेक्ष परिवर्तन के कार्यों को गति देती हैं, तभी लोकतंत्र फलदायक होगा और राज्य संचालित अर्थव्यवस्था जैसी परिघटना का खात्मा हो सकता है।

काले धन की अर्थव्यवस्था के बारे में लोगों की पारम्परिक सोच यह है कि इसमें हर व्यक्ति भ्रष्ट होता है। मैं अगर कोई लाभ कमा सकता हूं, तो उसमें वैध या अवैध का सवाल बेमानी है। इसलिए अशक्त और सशक्त के बीच का वैश्विक समीकरण भुला दिया जाता है और कहा जाता है कि हर व्यक्ति सिर्फ अपने लिए, अपने लाभ के लिए सोचता-करता है। इसीलिए श्रमिक कम से कम मेहनत कर अधिकतम लाभ लेने की बात सोचने लगते हैं। 'कम से कम परिश्रम और अधिक से अधिक अर्जन' पूर्णतः युक्तिसंगत हो जाता है।

लेकिन हकीकत यह नहीं है। अधिसंख्य लोग सामाजिक उद्देश्यों से प्रेरित होते हैं। लोग आंदोलन करते हैं, पड़ोसियों की चिंता करते हैं।

यहां तक कि तथाकथित शक्ति-सम्पन्न लोग भी गैरआर्थिक प्राणी होते हैं। उनका गैरआर्थिक होना भी उनके अस्तित्व का मजबूत पहलू है। वे यंत्रचालित रोबोट नहीं हैं, जो आर्थिक लाभ को अधिकतम और आर्थिक उत्पादन को न्यूनतम करने का फैसला करता है। प्रबंधन को पेशेवर बनाने के नाम पर हमने छोटे से प्रमोटर-समूह द्वारा समाज के संसाधनों और परिसम्पत्तियों पर नियंत्रण के लिए प्रबंधन के सिद्धांत गढ़े हैं।

लेकिन पेशेवर निर्णय करनेवाले प्रबंधन का उपकरण घिस चुके हैं और जड़विहीन हो चुके हैं। उन्होंने उन्हें वस्तुनिष्ठता का मोहरा बना दिया है। मान लिया गया है कि वे सबके भले के लिए हैं, इसलिए वे शक्ति-सम्पन्न समूह के हाथों के मजबूत साधन बन गये हैं। इन संदर्भों में लोकतंत्र का मायने है - संसाधन, ज्ञान, सूचना, टैक्नालॉजी के केंद्रीकरण की जड़ों की पहचान करते हुए सूचना, सत्ता, वजूद आदि के लिए संघर्ष। वर्तमान संदर्भ में यह अपरिहार्य है। यह पहले से विद्यमान है और यह सार्वभौमिक है। इसका फैलाव निर्बाध नहीं है। हालांकि कानूनी बाधाएं खत्म कर दी गयी हैं। जो पहले अवैध तरीके से चल रहा था, वह अब खुलेआम चल रहा है।

असली मुद्दा जो बच रहता है, वह यह है कि सामाजिक तंत्र (मैकानिज्म) को बेनकाब कर लोगों को यह बताया जाये कि व्यवस्था कैसे काम करती है। जो लोग बेहद पीछे हैं, उनके लिए लाभ मिलने का भ्रम पैदा किया जाता है। इस संदर्भ में लोकतंत्र सिर्फ एक मोहरा बन जाता है। बाजार के सिद्धांतों पर चलनेवाली आर्थिक गतिविधियां भी मोहरा बनी रहती हैं। हम मध्य वर्ग के लोग इस पूरी चीज के छोटे पहलुओं के लिए संघर्ष करते रहते हैं। इसलिए पूरा सवाल काले धन की अर्थ व्यवस्था और लोकतंत्र, समाज का शक्ति-सम्पन्न तबका और निर्बल तबके के बीच के रिश्ते से जुड़ा है। वे कैसी चाल चलते हैं, उसको समझना तो शुरूआत भर है। यह नेटवर्क कतई अपराजेय नहीं है। आप एक धक्के में उसे उखाड़ नहीं सकते लेकिन समझ के जरिये और फिर हर स्तर पर धीरे-धीरे अन्य कार्य करते हुए - चुनाव में, शिक्षा में, रोजगार में, सबमें आप पैठ बना सकते हैं।

## उत्तर-दक्षिण एका: कुछ चुनौतियां

विजय प्रताप

जब कभी हम इस दुनिया - जिसे हम पहले तीसरी दुनिया कहते थे - पर विमर्श करें, हमें अंतर्राष्ट्रीय एका का आधुनिक संदर्भ याद रखना चाहिए। यह महज मजाक नहीं है, इसका दस्तावेज तैयार किया हुआ है कि पचास के दशक की शुरुआत में जब भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी तेलंगाना लाइन बदली, तो उसका एक बेहद शक्तिशाली प्रतिनिधि मंडल कम्युनिस्ट आंदोलन की वैश्विक स्थिति और भारत में संभावित भूमिका पर विचार-विमर्श करने के लिए सोवियत संघ गया। प्रतिनिधि मंडल के सदस्य सोवियत संघ के नेताओं से इस सवाल का जवाब जानना चाहते थे कि उन्हें राष्ट्रीय बूर्जुआ (मध्य वर्ग) का पक्ष लेना चाहिए या नहीं? इस बैठक का इंतजाम पंडित जवाहरलाल नेहरू ने करवाया था। वांछित परिणाम यह निकला कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने सामंती समाज और सामंती शक्तियों से लड़ने के लिए राष्ट्रीय बूर्जुआ के साथ जाने का निर्णय किया।

यह विवरण सोवियत संघ के विघटन के बाद प्रकाशित किया गया है और अब हम एक ही तारीखों में दोहरी टीप (टिप्पणी) पाते हैं। दूसरे विश्व युद्ध के कारण दो स्तालिन थे - एक असली और दूसरा नकली। नकली कम महत्वपूर्ण काम करता है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेता असली स्तालिन से न मिलकर स्पष्टतया नकली स्तालिन से मिले। यह भी सीआईए का मजाक हो सकता है, लेकिन चूंकि सोवियत संघ का

अस्तित्व नहीं रहा, इसलिए हमें यह याद रखने की जरूरत है कि अंतर्राष्ट्रीय एकता के नाम पर हमारी कम्युनिस्ट पार्टियां कमोबेश इस तरह पेश आयीं।

यह किसी भी तरह से कम्युनिस्ट पार्टियों के त्याग, उनकी ईमानदारी या अंतर्राष्ट्रीयतावाद या राष्ट्रवाद के प्रति उनकी सत्यता पर टिप्पणी नहीं है। मैं मानता हूं कि बहुत सारे मुसलमानों ने - तमाम आरएसएस वालों से ज्यादा - कम्युनिस्ट बैनर तले स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लिया। मैं इसका जिक्र इसलिए कर रहा हूं क्योंकि आरएसएस उन पर मुख्यधारा में न होने की बात चर्चा करता है। सो यह न उनकी राष्ट्रभक्ति पर सवाल है, न उनकी प्रतिबद्धता पर और न ही उनकी ईमानदारी और त्याग करने के उनके जज्बे पर। यह सिर्फ अंतर्राष्ट्रीयतावाद, उसका हम पर प्रभाव, यूरोपीय लोगों द्वारा मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांतों का हमारे खिलाफ किये गये प्रयोग का वैचारिक संकेत मात्र है। मैं सोचता हूं कि जब भी हम नयी एकता की बात करें, यह स्पष्ट रहे।

यूरोप में संपूर्ण सामाजिक लोकतंत्रवादी आंदोलन अब लगभग नवउदारवादी आंदोलन में तब्दील हो गया है। यहां तक कि ग्रीन पार्टीवाले भी जब सरकार में आये, तो उन्होंने उसे नवउदारवादी राज्य की तरह बरता। बाहर से मैं सामाजिक लोकतंत्रवादी और नवउदारवादी में फर्क नहीं कर सकता। वैसे भी, फिनलैंड में ग्रीन पार्टीवालों और नवउदारवादियों का गठबंधन है और वे शासन कर रहे हैं। यही बात जर्मनी में भी है।

एक गांधीवादी समाजवादी होने के नाते मैं ग्रीन के साथ होना चाहता हूं लेकिन मैं तो घाटे में हूं। कोई भी ऐसा सशक्त आंदोलन नहीं है, जो उस अमेरिकी सुरक्षा सिद्धांत पर बहस करे, जो संपूर्ण विश्व को बदमाश करार देता है। पृथ्वी पर यही अकेला देश है, जिसने बम गिराया। यही अकेला देश है जिसने बड़े पैमाने पर परमाणु बम बनाना शुरू किया और वही दूसरों को बदमाश कहता है। अभी भी, आप उनके परमाणु सुरक्षा सिद्धांत देखें, वे कहते हैं कि इसे अमान्य करने का सवाल ही नहीं उठता। सोवियत संघ के विघटन के बावजूद आज वे जहां हैं, उसी स्तर पर कायम रहने का भी सवाल नहीं है। जर्मनी में ग्रीन

पार्टी के एक मंत्री ने, जो विदेश मंत्री भी हुआ करते थे, एक बहुत ही नरम बयान दिया कि नाटो के पास अब पहले आक्रमण न करने की नीति होनी चाहिए। तब अमेरिका जाकर चांसलर को वहां की सत्ता के समक्ष अपने विदेश मंत्री के बयान पर सफाई पेश करनी पड़ी। इस तरह की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर भी हमें विचार करना होगा।

मुझे कहीं कोई शांतिमय आंदोलन नजर नहीं आता, चाहे पीपुल्स सार्क मूवमेंट हो या अन्य कोई, जो अमेरिकी सुरक्षा सिद्धांत के बारे में बोलता हो। कोलम्बो की पिछली बैठक में हमारे परमाणु शस्त्र विरोधी सभी विचारक मौजूद थे। मैंने अमेरिकी सुरक्षा सिद्धांत के खिलाफ एक भी आवाज नहीं सुनी। परमाणु शस्त्र विरोधी लोग दक्षिण एशिया में मौजूद 'खिलौनों' की बात कर रहे थे - अमेरिकी शस्त्रों की तुलना में उन्हें खिलौने ही तो कहा जा सकता है!

कोई भी अंतर्राष्ट्रीय एका गैरसरकारी संस्थाओं - एनजीओ - के माध्यम से संभव नहीं हो सकती क्योंकि जब एनजीओ एकजुट होते हैं, तो वे राष्ट्रीय संप्रभुता को नजरअंदाज करते हैं और उनके पास राष्ट्रीय राजनीतिक प्रक्रिया की समझ नहीं होती। अगर कोई समझ होती भी है, तो वह एक राजनीति विरोधी नैतिकतावादी दृष्टि से लैस होती है, जिसमें सभी राजनीतिज्ञों को, बतौर परिभाषा, चोर और पूरी राजनीति को बुरा माना जाता है। वे ऐसे समय में पारदेशीय वैश्विक शासन की चर्चा कर रहे हैं, जब दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र - अमेरिका - ने संयुक्त राष्ट्र को अपने बकाये का भुगतान तक नहीं किया। वह संयुक्त राष्ट्र के यूनेस्को, डब्ल्यूएचओ, आईएलओ और यूएनसीटीएडी जैसी उन तमाम उदार संस्थाओं को ध्वस्त कर देना चाहता है, जहां हम व्यापार संबंधी मुद्दों पर अधिक समतावादी आधार पर या स्वास्थ्य के मुद्दों पर व्यापक संदर्भों में चर्चा किया करते थे। इसलिए जब भी हम विश्व एका की बात करें, हमें एकता के अब तक के ऐतिहासिक अनुभवों को भी दिमाग में रखना होगा।

1989 से फिनलैंड के अपने मित्रों से मैं अभिनव साझेदारी के रास्तों, गैरआर्थिक और राजनीतिक साझेदारी के बारे में चर्चा करता रहा हूँ। हमने विभिन्न दृष्टिकोणों और अनियतकालीन- असमयबद्ध कार्यक्रमों

पर चर्चा करना पसंद किया। मैं यहां किसी को कम या ज्यादा नहीं आंक रहा हूँ लेकिन सोचता हूँ कि एका को समझने की विभिन्न शैलियां होती हैं। हमारे सबसे अच्छे यूरोपियन मित्र कभी-कभी और अवचेतन में अक्सरहां यही सोचने लगते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय एकता में धन केन्द्रीय मुद्दा है।

धन बहुत महत्वपूर्ण है। किसी भी काम के लिए धन पूर्वापेक्षित है। लेकिन धन कभी भी जुटाया जा सकता है। यह कृतसंकल्प लोगों और क्रांतिक जमात की दृष्टि है। ऐसे लोग जो एक दृष्टि में साझेदारी करने और लोकतांत्रिक टीम, सहभागी टीम बनाने की इच्छा रखते हैं। ऐसी टीम, जो सिर्फ सहभागी तरीके से काम नहीं करता बल्कि अन्य लोगों को शामिल करने व उनके जुड़ने की गुंजाइश करता है। इस तरह की साझेदारी विकसित करने में हम सफल नहीं हुए हैं। उसके लिए हमारी अनौपचारिक प्रक्रिया में न्यूनतम समय है।

ज्यादा अतिवादी (रेडिकल) जमातों की नजर में किसी भी दक्षिण एशियाई या वैश्विक नेटवर्किंग के लिए एक तरह की अवैधता का भाव है, भले उसे मैं बनाऊं या कोई और। अतिवादी जमातों का आधा हिस्सा हवाला से धन प्राप्त करता है लेकिन सोवियत संघ के विघटन के बाद अब हवाला धन उपलब्ध नहीं है। अब वे एफसीआरए द्वारा स्वीकृत होने या कोई अंतर्राष्ट्रीय फंड लेने में अपराध जैसा महसूस करते हैं क्योंकि यह धन 'पवित्र भूमि' से नहीं आता। जहां कहीं कोई फंडिंग होती है, उस पर साजिश होने का आरोप हमेशा लग जाता है। ऐसी बीमार प्रवृत्ति सिर्फ कम्युनिस्टों में नहीं, समाजवादियों में भी व्याप्त है। वे कहते हैं कि जहां कहीं अंतर्राष्ट्रीय फंडिंग चलती है, उसमें जरूर कोई साजिश है। अवैधता के इस माहौल में हम साझेदारी की इस प्रक्रिया में तेजी से आगे नहीं बढ़ सकते। हमें इसे पारदर्शी रखना होगा। इसके कई अपने उतार या चढ़ाव होंगे। इसमें राजनीति होगी क्योंकि लोकतंत्र का मतलब ही है राजनीति। इसका मतलब है सभी स्तरों - परिवार से विश्व तक - पर सत्ता-समीकरणों को चुनौती देना। सो 'साझेदारी के जन्म' के लिए प्रसव-पीड़ा से गुजरना होगा और गर्भधारण से लेकर जन्म तक में वक्त तो लगेगा।

## विमर्श

**पूर्णकांत अधिकारी :** यूरोप में हो रही परिणतियों को देखें, यह मूलतः अमेरिकी आधिपत्य के खिलाफ प्रतिक्रिया थी, जो यूरोपीय संघ की शक्ति में साकार हुई। सार्क के अस्तित्व में आने से बहुत पहले यूरोप के हमारे कुछ समाजवादी दोस्तों ने हमें दक्षिण एशिया में एक क्षेत्रीय फोरम बनाने का सुझाव दिया था। मैं भी प्रारंभिक प्रक्रिया में शामिल था। यदि हम क्षेत्रीय सहयोग से लैस नहीं होंगे, तो हम दुनिया में अपना अस्तित्व कायम रखने में सक्षम नहीं होंगे। संभवतः भारत को इसकी ज्यादा जरूरत नहीं है क्योंकि यह पहले से ही काफी बड़ा है। लेकिन छोटे देशों को इसकी जरूरत है। लेकिन सवाल यह है कि हमारा बड़ा भाई भारत कैसे हमारा अच्छा दोस्त बन सकता है, ताकि यह सार्थक ढंग से मूर्त रूप ले सके।

**सूसान अदहल :** यूरोप में वैश्वीकरण विरोधी मजबूत लॉबी है। विश्व व्यापार संगठन के निर्णयों के खिलाफ नीति-निर्धारण करने के लिए यूरोपीय संघ एक अच्छे फोरम के रूप में प्रतिनिधित्व कर सकता है। लेकिन आप यूरोपीय बाजार को देखें। वहां कृषि, अनुदान प्रणाली और अन्य कई मामलों में कई सनकभरी और अनर्गल बातें हो रही हैं। फिनलैंड के किसान, खासकर छोटे किसान, यूरोपीय संघ में प्रवेश की वजह से हाशिए पर ठेले जा रहे हैं। अब मैं अपनी स्थानीय दुकान में जाकर डेनमार्क या फ्रांस के सामान खरीद सकती हूँ। क्या मुझे उनकी जरूरत है? मैं ऐसा नहीं सोचती। पर्यावरणीय संदर्भों में भी आप घाटे के शिकार हैं। यूरोप के विभिन्न हिस्सों की उन वस्तुओं को खरीदने में कौन सी समझदारी है, जिनका उत्पादन हम खुद कर सकते हैं? वैश्वीकरण का विरोध करनेवाले यूरोपीय संघ में कई नकारात्मक पहलू हैं।

अंतर्राष्ट्रीय सभाओं में वैश्वीकरण विरोधी आंदोलनों और विरोध करने वालों को अतिवादियों जैसे ही दुष्ट के रूप में चित्रित किये जा रहे हैं। लेकिन ये विरोधी कम से कम फिनलैंड के लोगों को इस तथ्य के प्रति जगा रहे हैं कि हम लोग विकासशील देशों में किसका समर्थन

और किसके बचाव का प्रयास कर रहे हैं, कि निजीकरण की प्रवृत्तियों जैसी गलत नीतियां खुद हमारे देश में भी लागू होने जा रही हैं। दक्षिण भारत जाते हुए ट्रेन में मैं स्वीडन के एक अध्यापक के पास बैठी थी। वह मुझे बता रही थी कि वहां अधिक से अधिक स्कूलों का निजीकरण किया जा रहा है। अधिक से अधिक स्वास्थ्य सेवाओं का निजीकरण किया जा रहा है। इसलिए हम अपने तथाकथित कल्याणकारी राज्यों में भी गरीब और अमीर के बीच को खाई को बढ़ते देखेंगे। यह एक वैश्विक चेतावनी है। ये कल्याणकारी राज्य-मॉडलों के लिए चुनौती है।

मैं आशा करती हूँ कि इस प्रकार के आंदोलनों के गठबंधनों से किसानों की तरह अन्य तमाम समूहों की एकजुटता बढ़ेगी, जो हाशिए पर जा रहे हैं। मैं सोचती हूँ कि फिनलैंड में जो किसान हाशिए पर चले गये हैं, उनके पास सीखने के लिए बहुत कुछ है और यह जानते हुए कि दुनिया भर के किसान इसी तरह की स्थितियों का सामना कर रहे हैं, बहुत सहयोग प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे गठबंधनों का हमें सक्रिय रूप में समर्थन करना चाहिए।

गरीबी के मुद्दे पर, हम फिनलैंड में बढ़ती गरीबी के गवाह हैं - एक ऐसे देश में, जिसके बारे में हमारा ख्याल था कि गरीब लोगों की पहचान करना मुश्किल है। भारतीय मित्रों के साथ वैचारिक आदान-प्रदान में मुझे अपने समाज के गरीब इलाकों को पहचानने में मदद मिली। यूरोप में यह सिलसिला तेज है।

**सी लक्ष्मणन :** पिछले साल (वर्ष 2000) इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में मानव विकास पर दक्षिण एशियाई सम्मेलन हुआ था। नेपाल, बंगलादेश और अन्य दक्षिण एशियाई देशों के सहभागियों ने इस तथ्य पर आक्रोश जताया कि भारतीय मीडिया इस क्षेत्र के अन्य देशों में जो कुछ हो रहा है, उसको पर्याप्त कवरेज नहीं देती। किसी मीडिया के सहयोग के बगैर लोकतंत्र की क्षेत्रीय अवधारणा अर्थहीन है। जब कोई सनसनीखेज समाचार होता है, सिर्फ तभी मीडिया सक्रिय होती है। अन्य देशों में कई सकारात्मक चीजें हो रही हैं लेकिन वे नहीं छपतीं। इसलिए दक्षिण एशियाई लोकतंत्र बनाने के लिए, उसे अधिक सार्थक और कारगर बनाने के लिए हमें मीडिया पर ध्यान देने की जरूरत है।

**स्वामी अग्निवेश :** प्रउट विचारधारा कहती है कि लोकतंत्र अपने आप में मानव जाति का आधारभूत नीतिशास्त्र है, मूल धर्म है। यदि इंसान मूल्यविहीन है, तो ऐसी ही समस्याएं होंगी, जिनका हम आजकल सामना कर रहे हैं। हम सिर्फ यूरोपीय संघ या दक्षिण एशियाई एकता के बारे में न सोचें। वैश्वीकरण का सकारात्मक पहलू यह है कि यह हमें वैश्विक गांव, विश्व सरकार के संदर्भ में सोचने में मदद कर सकता है। वर्तमान वैश्वीकरण का, विकेंद्रित अर्थ व्यवस्थाओं के साथ, विकेन्द्रीकरण करें। हमें पारिस्थितिक लोकतंत्र, मानव मूल्य और 'धर्म' की स्थापना करनी चाहिए, जो मानव जीवन का सार है।

लोकतंत्र को सबसे पहले रोटी, कपड़ा, मकान, प्रेम, दोस्ती जैसी जीवन की न्यूनतम जरूरतों की गारंटी करनी चाहिए। पिछले साल (2000) हमने डब्ल्यूटीओ, विश्व बैंक और अन्य संस्थाओं के खिलाफ प्राग में विरोध प्रदर्शन किया था। सिएटल एक साल पहले हुआ। पिछले दिनों हम वैश्वीकरण का विरोध करने के लिए वेलिंगटन (न्यूजीलैंड) में थे। इस तरह हम दुनिया के हर जगह और हर कोने के लोगों को जगा सकते हैं।

**अनिल भट्टराई :** मैं जो टिप्पणी करना चाहता हूँ, वह दक्षिण एशिया के एकजुट होने के राजनीतिक सवाल के बारे में है। मैं सुनता हूँ, लोग कहते हैं कि हमें एकजुट होने की और किसी न किसी तरह की एकता पैदा करने की जरूरत है। लेकिन हम वास्तव में एकजुट हो सकें, इसके पूर्व यह मूल सवाल कि हम किस तरह का राष्ट्र-राज्य चाहते हैं, इस तरह के आह्वानों में अनुत्तरित रहता है। जब तक हम अपने राष्ट्र-राज्य के भीतर लोकतंत्र के मुद्दे को हल नहीं करते, तब तक दक्षिण एशियाई के रूप में हमारे एकजुट हो सकने की कतई उम्मीद नहीं। विश्व व्यापार संगठन के मामले में भी, मैं नहीं देखता कि दक्षिण एशियाई एकजुट हो रहे हैं। उदाहरण के लिए, जो सरकार भारत में सत्तासीन है, वह पूरी तरह से डब्ल्यूटीओ में शामिल होना चाहती है। जब तक भारत में कोई राजनैतिक परिवर्तन नहीं होता, जो डब्ल्यूटीओ का किसी न किसी स्तर तक लोकतंत्रीकरण करने या डब्ल्यूटीओ के भीतर गरीब लोगों के हितों को सुरक्षित रखने के लिए प्रतिबद्ध हो, तब

तक यह शुभेच्छा करना कि डब्ल्यूटीओ या वैश्विक संस्थाओं के रू-ब-रू दक्षिण एशियाई एक इकाई की तरह एकजुट हो जायेंगे, एक तरह की काल्पनिक उड़ान ही है।

**झलनाथ खनाल :** वैश्वीकरण एक लक्ष्यसिद्ध प्रक्रिया है, जो लंबे समय से विकसित हो रही है। लेकिन विकास के इस युग में पूंजीवाद, वैश्वीकृत पूंजीवाद में विकसित हो चुका है। इसके दो पहलू हैं। इसमें एक है साम्राज्यवादी वैश्वीकरण, जो वैश्विक शोषण और दमन के नये रूप सामने ला रहा है। इस वैश्वीकरण का विरोध करने के लिए क्षेत्रीय और वैश्विक संघर्षों के नए रूप भी विकसित हो रहे हैं। उदाहरण के लिए सिएटल, संघर्ष का नया रूप है, जिसके पश्चात वैश्विक संघर्ष के कई स्वरूप विकसित हो रहे हैं। साम्राज्यवादी वैश्वीकरण का विरोध करने के लिए वैश्विक और क्षेत्रीय संघर्ष के नये स्वरूप भी विकसित हो रहे हैं। साम्राज्यवादी वैश्वीकरण का प्रतिरोध करने के लिए और भी अन्तर्राष्ट्रीय गठजोड़ों की आवश्यकता है। इसके साथ हमें व्यापक क्षेत्रीय गठबंधन की जरूरत है। संघर्ष के राष्ट्रीय स्वरूप विकसित हो रहे हैं। इस संदर्भ में हम दक्षिण एशियाईयों को साम्राज्यवादी वैश्वीकरण का विरोध करने के लिए एकजुट होने की कोशिश करनी चाहिए।

**अरुण कुमार सिंह :** हमें अनुभवों का आकलन करना चाहिए कि अतीत के प्रयासों का क्या हथ्र हुआ और उन प्रयोगों में कहां असफलता हाथ लगी। उदाहरण के लिए 1992 से 2000 के बीच 'पीपुल्स सार्क फोरम' की चार या पांच बैठकें हुईं। अंतिम बैठक श्रीलंका में हुई थी। अन्य तीन बैठकों में मैं एक सक्रिय सहभागी के रूप में शामिल था। 1995 की पीपुल्स सार्क बैठक के दौरान बांग्लादेश, नेपाल, पाकिस्तान, भूटान, भारत और बर्मा के लोग आये थे और उन्होंने विभिन्न मुद्दों पर विस्तार से बातचीत की। दुर्भाग्यपूर्ण पहलू यह था कि उसकी पृष्ठभूमि में हमेशा भारत-पाकिस्तान का झगड़ा मंडराता रहा। जब तक यह मुद्दा हल नहीं किया जाता, एका पैदा करने के प्रयास कम ही सफल होंगे।



उस वक्त डब्ल्यूटीओ तुरत लागू ही हुआ था और उसे चुनौती के रूप में नहीं देखा गया था। उसके न क्रूर पहलुओं को समझा गया और न उसके तात्कालिक व दीर्घकालिक प्रतिघातों को। अब हम ऐसी स्थिति में आ चुके हैं कि इस साल (वर्ष 2001) की पहली अप्रैल से उसके बहुत से प्रावधान पूरी तरह से लागू हो जायेंगे। इसने कई खतरे पैदा किये हैं और कई चुनौतियां और बेजोड़ मौके भी पेश किये हैं - वैश्वीकरण के विरोध में क्षेत्र के लोग एकजुट होकर एकता का मंच बना सकते हैं। इस पृष्ठभूमि में हमें अतीत के अनुभवों और असफलताओं के कारणों को समझने की जरूरत है।

**अशोक कुमार सिंह :** देशज लोगों के मानवाधिकारों के मुद्दों के प्रति राज्य का रवैया तमाम दक्षिण एशियाई देशों में एक जैसा है। मैं जानना चाहता हूँ कि दक्षिण एशिया में एकता कैसे देशज लोगों द्वारा उठाये जानेवाले मुद्दों को केन्द्र में रख सकती है? फिलहाल हम वैश्वीकरण की बात कर रहे हैं। पहले हम गैरउपनिवेशवाद के बारे में बात कर रहे थे। आजादी के बाद से हम इन देशज लोगों - आदिवासियों - का, उनके प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करते आये हैं - सांस्कृतिक और राजनीतिक स्तर पर भी। हम इन मुद्दों को लोकतंत्र के लिए खतरे के रूप में वैश्वीकरण के मुद्दे के साथ कैसे जोड़ सकते हैं?

**केसी नाहटा :** यह स्पष्ट है कि तथाकथित 'ट्रिकल डाउन थ्योरी' (रिसाव का सिद्धांत) नहीं चलती। वस्तुतः इसने विषमता को बढ़ाया है। हम लोग डब्ल्यूटीओ और विश्व व्यापार की शर्तों और नियमों की आलोचना कर रहे हैं लेकिन कोई वैकल्पिक ब्लूप्रिंट सामने नहीं आया है। मैं सोचता हूँ कि हम वैश्वीकरण से बच नहीं सकते। यह आने वाले कुछ सालों तक चलेगा। इसलिए तत्काल आम सहमति से ब्लूप्रिंट तैयार करना जरूरी है।

## दक्षिण एशिया की परम्पराएं और लोकतंत्र

विचार

**परम्परा और लोकतंत्र**

प्रो. इकबाल अंसारी

**लोकतंत्र बनाम सह अस्तित्व की परंपरा**

प्रो. इम्तियाज अहमद

**सहभागी लोकतंत्र की ओर**

डी. एल. शेट

**विमर्श**

विचार

## परम्परा और लोकतंत्र

इकबाल अंसारी

भारत का चुनावी लोकतंत्र दक्षिण एशिया में सफल माना जाता है। हालांकि यह बहुत संतोषप्रद अनुभव नहीं है। मैं भी उनमें से एक हूँ, जो संतोष का अनुभव नहीं करते।

मैंने अपने जीवन के 50-55 से अधिक साल पश्चिमी उत्तर प्रदेश में गुजारे हैं - बतौर छात्र, बतौर शिक्षक और इसी तरह की अन्य भूमिकाओं में। वहाँ काम करनेवाले लोगों से मैंने जाना कि पश्चिमी उत्तर प्रदेश में 60-70 के दशक में निचली जातियों के लोगों को वोट देने के अधिकारों से वंचित रखा जाता था। उन दिनों चौधरी चरण सिंह सत्ता के शीर्ष पर थे। प्रभावशाली जातियों में भी चौधरी चरण सिंह और उनके सहयोगी तय करते थे कि कैसे और किसको वोट देना है। लोग जाते थे और एकत्रित वोटों को मतपेटियों में डाल आते थे।

आपातकाल के दौरान मैं 1969 में अहमदाबाद में हुए साम्प्रदायिक दंगे की जांच-पड़ताल कर रहा था। उसमें 3000 लोग मारे गये थे। मैंने वहाँ पूर्व के पांच साल के सामाजिक और राजनीतिक परिदृश्य पर शोध किया। वहाँ के आम लोगों ने - मुसलमान और हिंदू दोनों समुदाय के लोगों ने - मुझे बताया कि गुजरात के इतिहास में, खास कर अहमदाबाद में, मुसलमानों ने कभी किसी स्थानीय और क्षेत्रीय आंदोलनों में भाग नहीं लिया। आपातकाल के दौरान माकपा के कुछ लोग, प्रो. इरफान हबीब और मैंने अलीगढ़ में लोक स्वातंत्र्य संगठन (पीयूसीएल) की

इकाई का गठन करने का फैसला किया। मैंने अपने मुसलमान दोस्तों, गैरराजनीतिक शिक्षकों और छात्रों से पीयूसीएल में शामिल होने को कहा, क्योंकि इसने प्रतिरोध के लिए मंच मुहैया किया था। लेकिन एक भी व्यक्ति शामिल नहीं हुआ।

हालांकि आपातकाल के तुरंत बाद का चुनाव दुर्लभ अनुभव रहा। यह कई रपट और किताबों में दर्ज है कि तमाम राजनीतिक विचारधाराओं वाले मुसलमान और हिंदुओं ने आपातकाल के खिलाफ प्रतिरोध में हिस्सा लिया। जब चुनाव की घोषणा हुई तो इरफान हबीब और मैंने जनता पार्टी के उम्मीदवार के लिए घर-घर जाकर प्रचार किया था, हालांकि हम नहीं जानते थे कि वह कौन है। संयुक्त भागीदारी ने लोगों को आपातकाल के खिलाफ सचमुच एकजुट ताकत में ढाल दिया था।

सहभागी लोकतंत्र की कई परम्पराएँ हैं, जिन्हें विकसित करने की जरूरत है। भारत और नेपाल जैसे देशों के समाज एकरूप नहीं हैं। फिर भी सभ्यता के विकासक्रम में दक्षिण एशिया के लोगों में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक जुड़ाव होता आया है। हमें यह समझने की जरूरत है कि इन सकारात्मक तत्वों के निर्माण में ऐसा क्या होता है, जिनका वर्तमान में सहारा लिया जा सकता है या जिनको जारी रखा जा सकता है।

किसी भी परम्परा या धर्म में विहित विशिष्ट विचारों को उनके सैद्धांतिक पहलू को जाने बगैर नहीं समझा जा सकता। स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व लोकतंत्र के लिए ऐसे आधार हैं, जिन्हें हम वैश्विक स्तर पर समझते हैं क्योंकि यह मानवाधिकारों के विश्व घोषणा पत्र के अनुच्छेद एक में स्पष्ट रूप से दर्ज है कि सभी इन्सान समान प्रतिष्ठा, अधिकार, बुद्धि और विवेक से सम्पन्न, जन्मना स्वतंत्र हैं और उन्हें बंधुत्व की भावना के साथ एक दूसरे से व्यवहार करना चाहिए।

इस घोषणा पत्र में मुक्ति का दर्शन व्यक्त हुआ है। समानता और स्वतंत्रता के विचार का मतलब है असहमति और भिन्नता के प्रति सहिष्णुता। बंधुत्व को समुदाय-बोध के अर्थ में लिया गया है - यहाँ पर हम राजनीतिक बिरादरी पर केंद्रित हैं, जो सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक विविधता से लैस है।

इसे इस्लाम से जोड़ने का अर्थ है इस्लाम के मूल स्वर - संपूर्ण मानव जाति में पूर्ण समानता का विचार - से जुड़ाव, जिसे कुरान और पैगम्बर ने आकाश से उद्घोषित - खुदा का आदेश - कहा। पैगम्बर ने तो अपने जीवनकाल में ही सभी जातियों और वर्गों में समानता की घोषणा कर दी थी। उदाहरणार्थ, दासता से मुक्त किये गये एक काले आदमी और ईरान से आये कुलीन वंश के एक आदमी, दोनों को बराबरी का दर्जा दिया गया।

इसका मतलब यह नहीं कि इस्लाम समस्याओं से मुक्त था। शुरू से लेकर आज तक इस्लाम को मानने वालों और न मानने वालों के बीच सीधा स्पष्ट विभाजन बना हुआ है। इसका मायने यह नहीं कि इस्लाम न मानने वालों के इन्सान होने से इनकार किया गया। दरअसल कुरान में खुदा कहता है - 'मैंने इन्सान को आत्मसम्मान से विभूषित किया है, आत्मसम्मान से इन्सान की रचना की है।' फिर भी कुछ रियायतों और कुछ अधिकारों की वजह से मुसलमानों में यह एहसास जगता है कि इस्लाम को न मानने वाले - पूरी तरह से न सही, कमतर ही सही - कुछ चीजों से वंचित किये गये हैं। ईद-उल-फितर और ईद-उल-जुहा की प्रार्थनाओं के दौरान भारत, पाकिस्तान और अन्यत्र यही होता है। वे कभी भी पूरी मानवता की शांति या पूरी मानवता की समृद्धि के लिए प्रार्थना (नमाज अता) नहीं करते। उनकी प्रार्थनाएं बहुधा मुसलमानों के लिए होती हैं। ऐसा कुरान की उन आयतों, जिनको वे दोहराते हैं, के बावजूद होता है, जिनमें उनके खुदा को सम्पूर्ण विश्व का मालिक कहा गया है। जब वे नमाज अता करते हैं, कहते हैं - 'ऐ खुदा, मुसलमानों को शान्ति और समृद्धि दो, बोस्निया के मुसलमानों की मदद करो, फिलिस्तीन के मुसलमानों की रक्षा करो, बाबरी मस्जिद को बचाओ आदि-आदि।' यह सिर्फ भारत नहीं, बल्कि हर जगह के मुसलमानों का भाव-बोध है।

भारत में राजनीति एक ऐसी सुस्पष्ट प्रणाली है, जिसमें विभिन्न आस्थाओं के लोग साथ चल सकते हैं और साथ जी सकते हैं। हमने अपने लिए ऐसा संविधान बनाया है, जो सभी लोगों के लिए समान अधिकारों की गारन्टी देता है।

खैर, मैं फिर से इस्लाम पर आता हूँ। एक वाक्या है कि मदीना में पैगम्बर ने अपना एक प्रतिज्ञापत्र पेश किया। एक बार जब पैगम्बर की हत्या का प्रयास किया गया, तब उन्हें विस्थापित होकर मदीना में बसना पड़ा था। मदीना में जनजातीय समाज था - यहूदी और अन्य जनजातियों का समाज। यहूदियों में भी एक नहीं, कई जनजातियाँ, जिनमें तीन मुख्य थीं। वहाँ मूर्तिपूजक जनजातियाँ थीं, धर्मातरित मुसलमान थे। ऐसी स्थिति में बहुत व्यापक संविधान और राजतंत्र की व्यवस्था की गयी, जिसमें सभी जनसमूहों को स्वायत्तता दी गयी - सांस्कृतिक और धार्मिक स्वायत्तता दी गयी। और, सभी धार्मिक और सांस्कृतिक समूहों में सर्वमान्य उद्देश्यों के प्रति दायित्वबोध पैदा किया गया। राजतंत्र के तहत मदीना में शांति कायम रखना और मक्का से संभावित हमले के खिलाफ सुरक्षा सर्वमान्य उद्देश्य थे।

यह सर्वविदित है और विद्वानों ने इसे समझाया भी है कि इस्लाम को न मानने वालों और न मानने वालों की श्रेणियों में ऐसे लोगों, जिन्होंने मोहम्मद साहब के संदेशों को अस्वीकार किया, और यहाँ तक कि अपने-अपने धर्मशास्त्रों को माननेवाले लोगों - ईसाई, यहूदी एवं अन्य - के लिए मदीना के संविधान के तहत बराबर के अधिकार सुनिश्चित किये गये।

भारतीय परिदृश्य में आप पायेंगे कि मध्यकालीन भारत में, कोई कुछ भी दावा करे, सभी धर्मों में कमोबेश सहिष्णुता और असहिष्णुता की परम्पराएं विद्यमान थीं। उस दौरान ईसाइयों ने सर्वथा निम्नस्तर की असहिष्णुता का आचरण किया। 'टाइम' पत्रिका ने बामियान पर अपनी रिपोर्ट में न्यूयार्क म्यूजियम के निदेशक को उद्धृत किया है, जिन्होंने इस विडम्बना को रेखांकित करते हुए तालीबान से बुद्ध की प्रतिमा लेने की पेशकश की कि पूजास्थलों और वास्तुकला की प्रतिष्ठा के पूरे इतिहास में ईसाइयों की तुलना में इस्लाम ज्यादा सहिष्णु रहा है। उन्होंने प्रामाणिकता के साथ कहा कि मुसलमानों ने अपने 1400 वर्षों के शासन के दौरान जितना किया, उससे कहीं ज्यादा अकेले क्रॉमवेल ने मध्यकालीन विरासत को मटियामेट किया और जलाया।

भारत में सहिष्णुता और असहिष्णुता, दोनों परम्पराएं विद्यमान हैं। गाय के साथ किया जाने वाला व्यावहार इसकी मिसाल है। यह मेरा अभिप्राय स्पष्ट करेगी। भावनात्मक मुद्दों के समाधान पेश करने के लिए हम मध्यकालीन भारतीय इतिहास के पूरे दौर में बादशाहों, उलेमाओं, सूफियों हर तरह के राजनीतिक नेताओं को हिन्दुओं के सम्प्रदायगत मूल्यों के प्रति समर्पित होते एवं संवेदनशीलता प्रदर्शित करते देख सकते हैं तथा उन्हें यह कहते पाते हैं कि वे कानूनन या स्वेच्छा से भी गायों को नहीं काटेंगे। उनमें सिर्फ बाबर और कश्मीर के सुल्तान नहीं, बल्कि सैयद अहमद खान जैसा नेता शामिल है, जो अपने हिन्दू-विरोध की पराकाष्ठा के दौर में यह कहता था कि हिन्दू-मुसलमानों में एकता संभव नहीं है। उस वक्त भी उसने उन लोगों को बधाई दी, जिन्होंने गाय की बलि न चढ़ाने की घोषणा की थी। उसने कहा भी कि यह सिर्फ व्यवहार कुशल कार्य नहीं, खुदा की नजरों में नेक काम है।

सो सैद्धांतिक स्तर पर इस्लाम समानता के विचार की बहुत मजबूत बुनियाद पर टिका है। लेकिन तब पाकिस्तान जैसे मुस्लिम देशों में लोकतंत्र क्यों सफल नहीं हुआ? भारतीय उपमहाद्वीप में हमारा साझा इतिहास है। लेकिन भारत की तरह वहां के मुसलमान लोकतांत्रिक संस्थाओं को मजबूत करने में क्यों सफल नहीं हुए? मुझे लगता है कि समानता का विचार मुस्लिम समाज की जीवंत परम्पराओं का सक्रिय हिस्सा है लेकिन सहिष्णुता, स्वतंत्रता और असहमति की स्वीकृति का विचार हिन्दू समाज की तुलना में मुस्लिम समाज में कम है। हिन्दुओं में अपनी पिछड़ी जातियों के लोगों, खासकर दलितों के प्रति प्रदर्शित चरम असहिष्णुता अलग विषय है, जिसके बारे में हमें गम्भीरता से सोचना होगा।

मैं आपका ध्यान उस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहता हूं, जिसकी विद्वानों ने ही नहीं बल्कि आंदोलनकर्मियों ने भी उपेक्षा की है। वह यह कि इतिहास में भारत में मुसलमानों की उपस्थिति हिन्दुओं की वर्णगत (जातिगत) सामाजिक संस्थाओं पर आधारित रही है। मुसलमान उनमें शामिल नहीं थे, इसलिए वे म्लेच्छ, बाहरी थे। गांव और पास-पड़ोस में मुसलमानों के साथ खान-पान न करने सम्बंधी व्यवहार

में यह दिखता था। धर्मान्तरण की प्रक्रिया भी कुछ हद तक इसी वजह से शुरू हुई। आज की मुस्लिम आबादी के बड़े हिस्से, मुझे कहना चाहिए 99 प्रतिशत, का उद्भव देशज था। मेरे कहने का आशय यह है कि उनके 'अन्य या बाहरी' होने का भाव बाहर से थोपा गया है। वे सहिष्णु रहे लेकिन बुरे बर्ताव का शिकार रहे।

सऊदी अरब में आज भी भोजन सिर्फ बांटेकर नहीं, बल्कि एक ही बड़ी थाली से बांटेकर खाने का रिवाज है, जिसमें चार-पांच लोग एक साथ खा सकते हैं। अहमदाबाद में आज भी मुसलमान ऐसा करते हैं। मुसलमानों के राजनीतिक अलगाव पर ढेर सारी चर्चाएं होती रही हैं लेकिन हिन्दुओं के सामाजिक अलगाव पर नहीं, जो मुसलमानों में निरंतर भिन्नता का एहसास और 'मैं यहां का नहीं' का विचार भरता रहता है।

हालांकि अब यह एहसास उतार पर है लेकिन सदियों से हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एक परम्परागत व्यवहार रहा है। अच्छे दोस्त होने के बावजूद मुसलमान दोस्त के घर जाने पर हिन्दू दोस्त उसके हाथ का पान नहीं खाता। यह रिवाज बन गया, इसलिए मुसलमान खुद हिन्दू दोस्तों को पान नहीं देते, नौकर को भेजकर दूकान से पान मंगाते हैं। पानवाला भी धागे से अच्छी तरह बांध-बूंधकर पान देता है और नौकर उसे छुए बगैर ले जाता है ताकि हिन्दू दोस्त बिल्कुल शुद्ध और मुसलमान का अनछुआ पान ग्रहण कर सके।

कहने का आशय यह है कि जब लोग साझा संघर्ष में जुटते हैं - सिर्फ वृहद स्तर पर नहीं, जैसा कि आपातकाल में हुआ था, सिर्फ दमनकारी राज के खिलाफ जनप्रतिरोध के लिए नहीं - मोहल्ले (पास-पड़ोस) की किसी कार्रवाई, किसी काम, किसी लक्ष्य के लिए, जिससे लोगों का हित सधे, आप हाथ बंटते हैं तो एक तरह की सहभागी और एकजुटता की गतिविधि जनम लेगी। लेकिन अधिकतर सामाजिक आंदोलनों में, जिनमें आप शामिल हैं, मुझे बताया जाता है और मैंने देखा भी है कि मुसलमानों को परे रखा जाता है। वजह? कुछ से मैं अवगत हूं, कुछ हमें समझना होगा।

भारत में जो प्रणाली पहली लोकसभा (भारतीय संसद का निचला सदन) से तेरहवीं लोकसभा तक चली आ रही अब तक की प्रतिनिधित्व प्रणाली - में जनसंख्या के आधार मुसलमानों का जितना प्रतिनिधित्व होना चाहिए, उसका सिर्फ 50 प्रतिशत है। यह सायास नहीं, प्रणाली की वजह से हुआ। पक्षपातपूर्ण रिवाजों, जो संकीर्ण समूहगत वफादारी, जातिगत वफादारी आदि का प्रतिफल है, के कारण ऐसा हुआ। इस प्रक्रिया में मुसलमान बहिष्कृत किये गये। ऐसा मुख्यतया राज्य और विविध क्षेत्रों में सक्रिय स्वयंसेवी समाजों से मिलनेवाले फायदों के असमान वितरण की वजह से हुआ है।

ऐसा नहीं है कि वे स्वयंसेवी और नागरिक समाज की गतिविधियों से अलग हैं। हालांकि यह ऐसा पहलू है, जिस पर शोध और समाधान अपेक्षित है। यहां तक कि 1978 से अब तक मानवाधिकार आंदोलन में भी, मुझे लगता है कि मुस्लिमों की शिरकत लगभग न के बराबर रही है। यही स्थिति लोककल्याण के अन्य क्षेत्रों में भी है।

## लोकतंत्र बनाम सह अस्तित्व की परंपरा

*इम्तियाज अहमद*

मैं इस तथ्य का प्रतिवाद नहीं करूंगा कि परम्पराओं में और परम्परागत सामाजिक संरचनाओं में हमेशा से सहिष्णुता और पारस्परिक सहअस्तित्व की परम्परा विद्यमान रही है। यद्यपि आम धारणा के मुताबिक इस्लाम एक सर्वाधिक असहिष्णु धर्म है, कुरान में प्रारम्भिक पंक्तियों में कहा गया है - 'मेरे लिए मेरा धर्म और तुम्हारे लिए तुम्हारा।' यदि आप धर्म के भीतर सहिष्णुता की परम्पराएं खोज रहे हैं, तो उन्हें आप लगभग सभी धर्मों में पायेंगे। समय-समय पर ऐसी धार्मिक परम्पराओं की रचना की गयी, जिनमें सहिष्णुता का तत्व कम हुआ और कभी ऐसा समय आया, जब सहिष्णुता की परम्परा मजबूत हुई।

लेकिन मैं एक सवाल पूछना चाहता हूं - इस सहिष्णुता की प्रकृति कैसी है, जिसे ये धार्मिक परम्पराएं वास्तव में पेश करती हैं? मेरा दावा यह है कि परम्परागत धर्मों और परम्परागत समाजों में जो बहुलवाद था, वह, मैं कहूंगा, 'पीठ को पीठ' दिखाने जैसा बहुलवाद था और 'पीठ को पीठ' दिखाने जैसी सहिष्णुता थी। यह इस तरह चलता है - दुनिया को देखने की मेरी अलग दृष्टि है। दुनिया को देखने की आपकी अपनी अलग दृष्टि है और हम अपनी दो अलग-अलग विश्व दृष्टियों के साथ जीते हैं। ये दोनों कभी एक-दूसरे का सामना नहीं करतीं। ये सापेक्ष अलगाव में जीती हैं। और, अगर विभिन्न धार्मिक विश्वास, सामाजिक धारणाएं या आदर्शवादी प्रतिपादन सामाजिक अन्योन्यक्रियाओं

में आमने-सामने आते हैं, तो वह अन्योन्यक्रिया किसी वैचारिक मुकाबले के बगैर चलती है। इसलिए यह बिल्कुल सम्भव है कि एक मुसलमान तिरुपति मन्दिर में एक अच्छा नादस्वरम वादक बन जाय। भले उसकी वैचारिक अवस्थिति समरूप नहीं हो, लेकिन नादस्वरम वादक के रूप में उसकी भूमिका को मान्यता मिलती है। इसीलिए मैं भी वैचारिक अवस्थिति समरूप न होने के बावजूद एक ब्राह्मण के लिए 'वासम' भी हो सकता हूँ। मैं काम करता हूँ, जिसका मुझे पैसा मिलता है। इसलिए मेरा पहला निवेदन यह है कि जब हम परम्परागत समाजों और परम्परागत धर्मों में अन्योन्यक्रिया की बात करते हैं, तो हमें यह जरूर स्वीकार करना चाहिए कि यह 'पीठ को पीठ' दिखाने जैसी अन्योन्यक्रिया है या फिर वृत्तिमूलक है। वह सामान्यतः वैचारिक नहीं है।

यहीं मैं सोचता हूँ कि लोकतंत्र के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण भिन्नता को रेखांकित किया जाना चाहिए। लोकतंत्र जनता से एक दूसरे के आमने-सामने (फेस टू फेस) आने की अपेक्षा करता है। लोकतंत्र का निहितार्थ ही यह है कि वह विविध विश्व दृष्टि वाली जनता, दृष्टियों की विविध बिंदुओं, चीजों को देखने के अलग-अलग रास्तों, भिन्न विश्वासों और वैचारिक धारणाओं को एक दूसरे के आमने-सामने लाता है।

मैं सोचता हूँ कि हमने इस प्रक्रिया को सभी लोकतांत्रिक समाजों में देखा है। मैं इसके लिए पाकिस्तान, नेपाल, भारत जैसे किसी भी देश की नजीर पेश कर सकता हूँ, जहां लोकतंत्र की अन्योन्यक्रिया चलती है। वहां समूह भले अपने-अपने वृत्तिमूलक दायरे या अपने वैचारिक अलगाव के दायरे में बसर करते हों, वे अन्योन्यक्रियाओं के साथ, हर एक के साथ आमने-सामने हैं। यही आमने-सामने होना, अन्योन्यक्रिया और सहभागिता ही लोकतंत्र का मूल है।

राष्ट्र-राज्य बहुत बड़ी बाधा बन गया है। आप समकालीन दुनिया में सहिष्णुता के किसी सवाल, समकालीन दुनिया में सहअस्तित्व की समस्या की चर्चा राष्ट्र-राज्य की धारणा की पारस्परिक क्रिया को शामिल किये बिना कर नहीं सकते। अपनी बनावट और विन्यास के मद्देनजर राष्ट्र-राज्य, स्वीकृत प्रतीकों के इर्दगिर्द एका पैदा करने का

विराट कार्यक्रम है। यह एक ऐसा तकनीकी साम्राज्य है, जो एका की विश्वसनीय धारणा गढ़ने की कोशिश करता है, जिसमें दो दृष्टिकोणों के बीच प्रारम्भिक मुकाबले के बाद एक विजयी होता और दूसरे को रास्ता देता है। इसलिए रामलीला के उत्सव, प्रतीकात्मक प्रवचन पर अब बहस उठने लगी है कि यह अन्य समूहों के उन कार्यों की उपेक्षा करता है, जो उनके कर्मकांड कहे जाते हैं। वस्तुतः तब यह राज्य (सत्ता) का कार्यक्रम बन जाता है। तब राष्ट्र-राज्य के साथ ऐसी विचारधाराएं और राजनीतिक इकाइयां उभरती हैं, जो राष्ट्रत्व की इकहरी धारणा के निर्माण की प्रक्रिया को गति देती हैं। वे राज्य-व्यवस्था में अपनी जगह के लिए बातचीत या मोल-तोल करनेवाले समूहों के बीच की अन्योन्यक्रिया को बर्दाश्त नहीं करतीं या स्वीकार नहीं करतीं। मुझे इससे भी कोई परेशानी नहीं है। मेरी परेशानी का सबब तीसरा है।

तीसरी दुनिया के देशों में और खासकर दक्षिण एशियाई देशों में हम ऐसी स्थिति के सम्मुख हैं, जहां राज्य किसी कार्यक्रम के साथ आता है और वैचारिक-राजनीतिक घटनाएं उभर आती हैं, जो उसको प्रचारित करती दिखती हैं। भारत में आरएसएस, नेपाल, बांग्लादेश या फिर पाकिस्तान में दक्षिणपंथी ताना-बाना इसके कुछ उदाहरण हैं।

इन समाजों में कई तथाकथित अल्पसंख्यक समूह बड़े विचित्र तरीके से प्रतिक्रिया कर रहे हैं। उनका दावा, सहअस्तित्व के लिए समझौता या मोल-तोल की गुंजाइश का है, अन्योन्यक्रिया की विधि को लेकर चिन्तित नहीं है। उनका तर्क है कि हम शांति खरीदें, अधिकारों के लिए संघर्ष नहीं। मेरे कई मुसलमान दोस्त, जिनके साथ मैं काम करता हूँ, इस दृष्टिकोण की वकालत करते हैं। वे कहते हैं कि लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं, हमें सिर्फ शान्ति बनाये रखने के लिए और शांति-समझौता के लिए चिन्ता करनी चाहिए।

हाल ही मैंने अल्पसंख्यक परिषद (माइनॉरिटी काउन्सिल) का एक दस्तावेज देखा, जिसमें कहा गया है कि 'हिन्दू और मुस्लिम इस बात पर सहमत हैं कि अब मुसलमान गोवध नहीं करेंगे और हिन्दू भी मुसलमानों को कुछ छूट देंगे।' यह काम करने का सर्वथा लोकतंत्र

विरोधी ढांचा है क्योंकि इसमें लोकतांत्रिक नैतिकता और अन्योन्यक्रियाओं के दायरे के भीतर के सिवा कहीं न सहिष्णुता हो सकती है, न सह अस्तित्व हो सकता है, न समुदायों और धार्मिक समूहों के बीच कोई संवाद हो सकता है।

दक्षिण एशिया के अधिकांश देश आज दुर्गति के शिकार हैं। वहां कई शक्तिशाली अलोकतांत्रिक आंदोलन चल रहे हैं, जो ऐसे समूहों के अधिकार छीनना चाह रहे हैं, जो हाशिये पर हैं, जो अल्पसंख्यक हैं, जो प्रतिकूल परिस्थितियों के मारे हैं। वे उन्हें संविधान के दायरे में अपने अधिकारों की बात उठाने से रोकते हैं। इसलिए मैं सोचता हूँ, दक्षिण एशिया में सबसे बड़ी चुनौती यही है कि ये समूह शांति कायम करने की ऐसी प्रक्रिया में न पड़ जायें, जिसमें लोकतांत्रिक अधिकारों को त्यागना और सह अस्तित्व कायम करना होता है। और, जाहिर है कि तीसरी दुनिया के देशों की राज्य-व्यवस्थाओं में उनके लोकतांत्रिक बसर के लिए उनके संघर्षों को मजबूत करना अतिरिक्त चुनौती है।

## सहभागी लोकतंत्र की ओर

### डीएल सेठ

हमारे यहां परम्परा की मूल अवधारणा पर व्याख्या की उच्च कोटि की राजनीति का वजन है। समाज शास्त्रीय या अन्य तरह से यह सरल अवधारणा नहीं है, जिससे हमारे लिए यह जानना आसान होता कि प्रत्येक देश, लोग और समूह की अपनी-अपनी परम्पराएं हैं। वे स्वतः उद्घाटित श्रेणियां नहीं हैं। परम्पराओं को समझना होता है। उनके अर्थों को अनावृत्त करना होता है।

पहली बात है परम्परा को इस रूप में पहचानना। हमारे लिए यह जानना जरूरी है कि यह किस तरह से राजनीति में जी उठी और उपनिवेशवादी दिनों में शास्त्रीय व्याख्याओं के दायरे से बाहर निकली। जब हम अपने-अपने लोगों, देशों और धार्मिक समुदायों में सहिष्णुता और लोकतंत्र की परम्पराओं की बात करते हैं, तो इसमें दो पहलू शामिल होते हैं। पहला यह कि ऐतिहासिक संदर्भों में यह कहना और ढूँढ निकालना ठेठ दक्षिण एशियाई बोलचाल का अंदाज है कि यह सब तो हमारी परम्परा में रहा है - हमारी परम्परा में सहिष्णुता है, हमारी परम्परा में लोकतंत्र है। यहां तक कि कुछ अमोघ किस्म की टेक्नालॉजी, जिसका हमने आज अन्वेषण किया, वह भी हमारी परम्परा में थी। और भी कई अन्य चीजें हमारी परम्परा में थीं। परम्परा के बारे में इसी तरह से बात चलती है।

लेकिन मैं इसको संदर्भ में देखना चाहता हूँ। मैं सोचता हूँ हमारी सोच और हमारी राजनीतिक सोच में आत्मरक्षा के इस तत्व का प्रवेश उस औपनिवेशिक अनुभव के कारण हुआ, जिसमें हमें बताया गया कि हमारे पास कुछ नहीं था। यह दूसरों को परिभाषित करने की राजनीति है। इसलिए हमें बताया गया कि भारत एक राष्ट्र नहीं था। यह एक राष्ट्र क्यों नहीं था? क्योंकि यहां कभी केन्द्रीय राजनीतिक शासन नहीं था। इसलिए हमें यह कहकर सिद्ध करना था - 'देखिये, हम तो उस वक्त से एक राष्ट्र हैं, जब पश्चिम में राष्ट्र की कल्पना भी नहीं की गयी थी।' इसमें सत्य का कुछ अंश अवश्य है लेकिन मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि हमें बाहर से परिभाषित किया गया और कुछ संदर्भ में हमने उसे स्वीकार किया, जिससे शासकों के लिए शासन करना आसान हुआ।

यह एक पुराना खेल है - दलितों के खिलाफ खेला गया ब्राह्मणवादी वर्चस्व का खेल। आप कौन हैं? आप वही हैं, जो हैं - बहुत अच्छे, बहुत आज्ञाकारी, बहुत नम्र, सेवाकामी, आपमें ये गुण हैं, वो गुण हैं, बहुत सारे गुण हैं। ब्राह्मण यही सब दलितों को कहते रहे। दूसरों को परिभाषित करना आज भी परम्पराओं की राजनीति का बहुत महत्वपूर्ण हिस्सा है। इसमें संदेह नहीं कि भारत में और हमारी धार्मिक परम्पराओं में सहिष्णुता की परम्परा की जड़ें गहरी रही हैं, लोकतंत्र की भी लेकिन इसके रू-ब-रू आज जिस तरह से परम्पराओं की राजनीति का खेल खेला जा रहा है, वह आज के जीवन में सहिष्णुता को पुनर्जीवित करने और सहिष्णुता और लोकतंत्र को प्रासंगिक बनाने के लिए नहीं है। परम्पराओं की राजनीति का वर्चस्व और दमन के पुराने खेल को पुनर्जीवित करने में इस्तेमाल किया जाता है ताकि आप यह कहने की कोशिश करें - 'हां, यह तो महाभारत में था, यह कुरान में था।' तभी इस्लाम के तमाम असबाब, हिन्दुत्व के तमाम साजो-सामान, बुद्ध-धर्म के पिटारे को, उनकी सारी विकृतियों के बावजूद, सही और वैध साबित किया जा सकता है। यह परम्परा की राजनीति का एक पहलू है, जिसके प्रति हर किसी को पूर्ण रूप से सजग रहना होगा।

आज पूरी परम्परागत राजनीति का पुनरुद्धार उन लोकतांत्रिक मूल्यों को पुनर्जीवित करने के लिए नहीं है, जिनके बारे में हम सोचते हैं कि वे हमारी परम्परा में रहे हैं, बल्कि यह धार्मिक और परम्परागत संगठनों - सत्तावादी किस्म की वैधता से लैस संगठनों - को पुनर्जीवित करने और लिंग भेद को ढंकने, लोकजीवन में विद्यमान पुरोहितवाद और अलगाव तथा ऐसी ही कई चीजों को ढंकने के लिए है।

इसके साथ यह भी है कि कोई औपनिवेशिक प्रभु हमारे लोगों से यह खेल न कर सके और कह सके - 'देखो, तुम्हारी परंपराओं में कुछ नहीं है।' उदाहरण के लिए, पश्चिमी विचारक या आप्रवासी भारतीय कहते हैं कि प्रेम की अवधारणा भारत के लिए परायी है या मित्रता भारतीय परम्परा के लिए विदेशी विचार है, वहां न्याय की धारणा नहीं है, वहां समानता की संकल्पना नहीं है। कुल मिला वे कहते हैं कि हमारी परम्परा में कुछ नहीं है। अगर हम सहिष्णुता और लोकतंत्र की परम्पराओं के बारे में तर्कसंगत चर्चा करना चाहते हैं, तो यही वह दुविधा है, जिससे हमें गुजरना होगा। भारत में और वस्तुतः सम्पूर्ण दक्षिण एशिया में, सम्भवतः जहां कहीं जाति व्यवस्थाएं हैं, एक परंपरा रही थी, जिसे आप स्थानीय लोकतंत्र कह सकते हैं। एक मायने में यह सही है कि वहां कोई केन्द्रीय शासन नहीं था। क्योंकि वह विविध स्थानीय लोकतंत्रों की व्यवस्था थी। मैं लोकतंत्रों को रेखांकित करना चाहता हूँ। हम लोकतंत्र का सिर्फ एक अर्थ समझते हैं - प्रातिनिधिक प्रणाली। लेकिन हिन्दू और ज्यादातर भारतीय राजनीतिक संगठन अतीत में कमोबेश केन्द्र विहीन थे - ये विकेन्द्रित थे और सर्वथा स्थानीय थे। जाति संरचना भी स्थानीय थी। इसे अब श्रीनिवासन और अन्य जैसे कई प्रमुख समाजशास्त्रियों ने प्रमाणित किया है। उन्होंने बताया है कि जाति एक स्थानीय परिघटना थी, जो वर्ण की वृहद धारणा के तहत तैयार की गयी थी, जो वास्तव में टिकारू, रैखिक सर्वभारतीय संरचना के रूप में कभी विद्यमान नहीं थी।

इस अर्थ में जाति व्यवस्था राष्ट्र-राज्य के मनोविज्ञान की निर्मिति थी, जिसमें कोई भी व्यक्ति इसे बड़े परिप्रेक्ष्य में पेश कर देता है। अपने पुनर्निर्माण में हम हमेशा जाति व्यवस्था के एक ही आयाम पर जोर देते



हैं - वर्णानुक्रम के आयाम पर। दूसरे आयाम पर नहीं, जैसे कि समुदाय। कि जाति का समुदाय वाला आयाम स्थानीय लोकतंत्र का एक रूप था। यह भी स्थानीय स्वायत्तता और स्थानीय वर्चस्व का रूप था। दरअसल, वह सामूहिक निर्णय करने का राजनीतिक संगठन था। उसके दो पहलू थे।

पहला, जाति विशेष के सभी सदस्यों के बीच व्यापक स्तर की समानता थी - सब एक सा खाना खाते थे, एक से कपड़े पहनते थे और निर्णय भी आम सहमति के आधार पर लिये जाते थे। निर्णयों से कोई भाग नहीं सकता था और वे वास्तव में जाति के भीतर बहुमत के आधार पर थोपे नहीं जाते थे। इसलिए श्रीनिवासन की तरह किसी ने इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (ब्रिटेन का विश्वकोश) में हिन्दुत्व को स्थानीय स्तर पर संगठित व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया है।

आधुनिक राज्य-निर्माण के दौरान औपनिवेशिक शासन के खिलाफ लड़ते हुए लोग स्थानीयता की चर्चा नहीं करना चाहते थे क्योंकि यह माना जाता था कि यदि हमने यह स्वीकार कर लिया कि हम भिन्न-भिन्न स्थानीय लोग थे, तो हम एक नहीं, इसलिए एक राष्ट्र नहीं और इसलिए हम स्वतंत्रता के अधिकारी नहीं।

दूसरी बात यह कि जब जरूरी हुआ, जाति ने समुदाय के रूप में राज्य-सत्ता के प्रति विरोध प्रकट किया। कई उदाहरण हैं कि जब कभी अन्याय हुआ, पूरा समुदाय विरोधस्वरूप बाहर निकल गया - दूसरी जगह जाकर बस गया। इन सब का विद्वानों ने प्रमाण पेश किया हुआ है।

अब मैं कहना चाहूंगा कि लोकतंत्र को एक आयामी नहीं होना चाहिए, जैसा कि आज है - सिर्फ प्रातिनिधिक लोकतंत्र के रूप में, जो बाजार और राष्ट्र-राज्य से जुड़ा है। हमें इस सोच से निकल कर सहभागी लोकतंत्र का विचार अपनाना होगा। इस बाबत मैं सोचता हूँ कि हमारी परम्परा में बहुत सारे तत्व हैं, जिनका उद्धार, पुनर्निर्माण किया जा सकता है। उन्हें वैधता प्रदान की जा सकती है। जरूरी नहीं कि इससे हम एकता या सामंजस्य खोने के डर से निजात पायें, क्योंकि परम्परा

में ये स्थानीय लोकतंत्र एक निश्चित तरह की वृहद विचारधारा के जरिये संचालित होते थे, जैसे कि आज विकास, धर्मनिरपेक्षता तथा अन्य चीजों के मामले में हमारे पास आधुनिक राष्ट्र-राज्य की वृहद विचारधारा है। यह स्थानीय लोकतंत्र की व्यवस्था भी एक खास तरह की वृहद संस्था के तहत संचालित होती थी, जिसे वर्चस्ववाद कहा जा सकता है।

वर्चस्ववाद का एक इतिहास रहा है। वह वर्चस्व वैचारिक और व्यावहारिक दोनों स्तर पर था - जाति की विचारधारा के स्तर पर, पवित्रता और पवित्रता के मामलों में और भी कई चीजों में। वह विचारधारा विभिन्न समूहों को पूर्णतः समभागी बनाती थी। इसलिए लोग स्वशासित, स्वनियंत्रित थे और वह केन्द्र की विचारधारा की तरह सतह पर नहीं थी। वही वर्ण व्यवस्था का सिद्धांत है।

यदि आप दुनिया के अन्य हिस्सों की परम्पराओं से स्थानीय लोकतंत्र की परंपराओं की तुलना करें, तो पायेंगे कि अल्पसंख्यकों और अवांछितों के प्रति व्यवहार के चार या पांच तरीके जानते हैं।

एक है अवांछित लोगों का अपनी भौगोलिक सीमाओं से जबरदस्ती निष्कासन, जिसका अतीत में प्रयोग होता था। दूसरा तरीका ज्यादा अतिवादी था - उनका सर्वनाश। सर्वनाश अवांछितों से छुटकारा पाने का स्थापित राजनीतिक माध्यम है। तीसरा है - दासता, जो हमेशा से थी। आप लोगों को दास बनाते हैं और उन्हें किसी न किसी तरह की पराधीनता में रखते हैं। चौथा है - लोगों को अदृश्य बना देना - अर्ध मानवीय अदृश्यता और इन्सान रूप में उनके अस्तित्व को अवैधानिक बना देना। मैं सोचता हूँ कि सहिष्णुता की इस परम्परा में अन्य को अवांछित, अदृश्य या पराधीन बनाने के तत्व हैं।

आज चूंकि हम राष्ट्र-राज्य के संदर्भ में लोकतंत्र को पुनर्गठित करने के संक्रमण के लम्बे दौर में प्रवेश कर रहे हैं या कर चुके हैं - और मैं नहीं कहता कि राष्ट्र-राज्य खत्म हो जायेगा, लेकिन वैश्वीकरण और बाजार की ताकतें जिस तरह से अपनी सीमाओं का विस्तार कर रही हैं, उसके मद्देनजर यह कहूंगा कि आज लोकतंत्र एक स्तर पर अधिक सहभागीता और स्थानीय दृष्टि से लैस हो रहा है और दूसरे स्तर पर

अधिक वैश्विक और आधिपत्यवादी होता जा रहा है। यह बहुत ही जटिल द्वन्द्ववाद है - वैश्वीकरण की ताकत बनाम स्थानीयकरण की ताकत का द्वन्द्ववाद, जिसकी कभी न कभी गवेषणा होगी।

इस संदर्भ में, लोकतंत्र को पुर्नगठित किया जाना है और मैं सहिष्णुता और लोकतंत्र की अपनी प्रस्तावना को दोहराता हूँ। वे परम्पराएं नवजागरण के कार्यक्रम के रूप में हमारे लिए मददगार नहीं हो सकतीं। वे सिर्फ आगे बढ़ने और पुनर्निर्माण की योजना में मदद कर सकती हैं। आज लोकतंत्र जिस नये चरण में प्रवेश कर चुका है, उसमें तो वह वर्चस्ववादी सत्ता प्रणाली को कतई न वैधानिकता प्रदान कर सकता है और न उसे स्वीकार कर सकता है।

हमारी परम्पराओं ने अतीत के ब्राह्मणवादी वर्चस्व के दौर में जो कुछ किया, उसको लोग बड़े चाव से उद्धृत करते हैं : औरंगजेब ने मस्जिद बनाई और यह किया, और अमुक राजा ने वह किया। हां, उन्होंने जरूर किया लेकिन वर्चस्व के ढांचे के तहत ही ऐसा किया, जो शान्ति, सुरक्षा और न्याय प्रदर्शन के लिए राजनीतिक रूप से स्वीकृत सत्ता का ढांचा है। उस तरह के सम्बंधों में आज ये तत्व नहीं रहे। ज्यों-ज्यों समतावाद और समता का विचार केन्द्र में आ रहा है, त्यो-त्यो वैयक्तिक जागरूकता और व्यक्तिगत पहचान उतनी ही महत्वपूर्ण, शायद भविष्य की सामूहिक पहचान की तुलना में ज्यादा महत्वपूर्ण होती जा रही है। इस स्थिति में निरन्तरता को महत्व देना और जारी रखना होगा, लेकिन इसमें परिवर्तन की भी गुंजाइश सुनिश्चित होनी चाहिए, ताकि सहिष्णुता और स्थानीय लोकतंत्र को आधुनिक समय के अनुरूप ढाला जाये, जिसमें व्यक्ति की निजी पहचान और समता की ऐसी अवधारणा बने जो हमारी परम्पराओं से अलग हो।

मैं यह कहकर समाप्त करूंगा कि आज हम ऐसी वेदना - प्रसव पीड़ा - से गुजर रहे हैं, जिसे आप, ऐतिहासिकता की दृष्टि से, तीसरी क्रांति कह सकते हैं। इस उपमहाद्वीप के इतिहास में पहली क्रांति वह थी, जो समता के लिए बौद्धों और जैनियों के नेतृत्व में हुई थी। दूसरी सम्भवतः भक्तिकालीन सन्तों की थी। तीसरी क्रांति हमारी परम्पराओं

का उद्धार करने के मामले में पूर्व की दो क्रान्तियों की तरह उदात्त नहीं होगी लेकिन फिर भी वह विकृतियों को सुधारने और आगे बढ़ने तथा अधिक सहभागी, अधिक मानवीय, अधिक न्यायपूर्ण और अधिक समतामूलक समाजों का निर्माण करेगी, जिसको करने में प्रातिनिधिक राष्ट्र-राज्यीय लोकतंत्र विफल हो चुके हैं। इन्होंने तो सिर्फ आभिजात्यपन पैदा किया है, लोकतांत्रिक चिन्तन नहीं।

## विमर्श

**डा. भेष बहादुर थापा ( विचार सत्र के अध्यक्ष ):** दक्षिण एशियाई पहचान का संघर्ष चल रहा है, भले सार्क के खांचे में नहीं, लेकिन निश्चित रूप से यह उसी रास्ते है, जिस तरह दुनिया क्षेत्रीयता के खांचों में पुनर्संगठित हो रही है।

एक तरफ राष्ट्रीयता एक मुद्दे के रूप में तेजी से उभर रही है। नयी सदी का आविर्भाव होते ही हम विचारधारा का अन्त के साथ राष्ट्रीयता, राष्ट्रीयता के भीतर उपराष्ट्रीयता, सामंजस्य की भावना, जो सबके लिए जगह - क्षेत्रीयता, जातीयता या फिर धर्म पर आधारित जगह - की गुंजाइश करती है, को उभरते देख रहे हैं। हम दक्षिण एशिया में शायद इन दावों और परिवर्तनों को स्थान देने की क्षमता प्रदर्शित नहीं कर पाये हैं। फिर भी हम इसको एक सकारात्मक दिशा में ले जा सकते हैं और तब एक बड़ी पहचान स्थापित कर सकते हैं, जो हम सब के लिए उपयुक्त हो। हो सकता है कि आज जो कुछ हम दक्षिण एशिया में देख रहे हैं, वह किंचित परेशानी पैदा करने वाला हो लेकिन हमें इससे बाहर निकलना ही होगा।

यानी एक तरफ दक्षिण एशियाई पहचान बन रही है, तो दूसरी तरफ आप दक्षिण एशिया का जो चेहरा देख रहे हैं, वह पूर्णतः खंडित है। इसलिए, खासकर पिछले तीन-चार सालों में, दक्षिण एशिया एक क्षेत्र के रूप में विश्व के फलक पर कोई सकारात्मक प्रभाव नहीं डाल पाया। आर्थिक स्तर पर तो दक्षिण एशिया एक क्षेत्र के रूप में अफ्रीका के सहारा उपक्षेत्र से भी पीछे है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया, सूचना क्रांति सहित तकनीकी क्रान्ति दक्षिण एशिया को पीछे छोड़ रही है। सक्षम दक्षिण एशियाई अब अन्य क्षेत्रों में बस रहे हैं, प्रवासी बन कर। उनका अपने क्षेत्र में योगदान न के बराबर है।

दूसरी बात, लोकतंत्र के बारे में तीन विद्वानों ने जो कुछ कहा है, वह समकालीन संदर्भ में कुछ ज्यादा व्याकुल करनेवाला हो सकता है लेकिन हमने जो इतिहास से सीखा, वह यह है कि लोकतंत्र का कोई

भी विकल्प अनर्थकारी साबित हुआ है और उसने देश को पीछे धकेला है। इसे हम आपातकाल के दौरान भारत में कुछ समय के लिए हुई अव्यवस्था या हमारे दक्षिण एशिया के विभिन्न क्षेत्रों में फौजी हुकूमतों के विकास के रूप में देख सकते हैं।

उनके तात्कालिक औचित्य का तर्क ज्यादा दिन नहीं चल पाया, इसलिए जाहिर है, लोग वृहत्तर दायरे - सहभागिता के दायरे - में लौटे हैं। लेकिन तकनीकी क्रान्ति और वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने यह चुनौती पेश कर दी है कि क्या दक्षिण एशिया एक क्षेत्र के रूप में समझौता करने या अपने लिए कोई जगह बनाने लायक है? मैं सोचता हूँ कि यही दक्षिण एशियाई लोगों और उनके शुभचिंतकों के लिए विचारणीय है क्योंकि यही बाहरी लोगों के द्वारा दी गयी चुनौती है। आप सांस्थिक संरचना के अंदर देखें, विश्व बैंक हो, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष हो, परम्परागत संस्था हो या विश्व व्यापार संगठन जैसी उभरती नयी संस्था - किसी में दक्षिण एशिया निर्णय लेने की प्रक्रिया में कहीं नजर नहीं आता। सौदेबाजी में हम कमजोर होते जा रहे हैं और अपने-अपने देश के अंदर तथा पूरे क्षेत्र में निरंतर कमजोर होते जा रहे हैं। ऐसा लगता है जैसे हम हारी हुई लड़ाई लड़ रहे हैं।

एक दक्षिण एशियाई होने के नाते, अपने कार्यकाल और सक्रिय जीवन के संध्याकाल में, मेरी चिन्ता का विषय यह है कि हम अगली पीढ़ी को जीने के जो सूत्र सौंप रहे हैं, उनमें सांस्कृतिक, जातीय या अन्य किसी भी मायने में क्षेत्र में ही बने रहने और हर स्थिति का मुकाबला करने की चुनौती से ज्यादा बड़ा (आकर्षक और आसान) है क्षेत्र से पलायन कर अच्छा जीवन जीने का विकल्प।

दो-तीन सप्ताह पहले इसी तरह की एक संगोष्ठी में कनाडा के निवासी, जो संयुक्त राष्ट्र के एक वरीय अधिकारी हैं, आये थे। उसमें भारत के प्रधानमंत्री और अन्य कई गणमान्य लोग थे। उक्त अधिकारी ने दक्षिण एशिया के पिछड़े होने के संदर्भ में दो बातें कहीं कि दक्षिण एशिया और दक्षिण एशियाई देशों की नैतिक और जातीय बुनियाद का तेजी से क्षरण हो रहा है। लोभ हावी हो रहा है और जरूरतें पीछे छूट

रही हैं। नयी व्यवस्था से हम जिस नवजागरण की अपेक्षा करते हैं, उसके लिए सशक्त नैतिक और जातीय बुनियाद जरूरी है, खासकर शासितों से ज्यादा शासकों में।

उस अधिकारी ने दूसरी बात यह कही कि जनता के नाम पर, चुनाव के सतही लोकतांत्रिक प्रयोग या फिर जोड़-तोड़ के अन्य साधनों से, सत्ता का अपहरण किया जा रहा है। यह शीर्ष पर पहुंचने के लिए सीढ़ी चढ़ने की प्रक्रिया बन गया है। यह फिलहाल निर्वाचित सत्तावाद है। यह जनता के धैर्य की परीक्षा का दौर है।

मैंने दुनिया के अन्य क्षेत्रों में काम किया है और विदेश में छात्र भी रहा हूं। लेकिन उस अधिकारी को सुनना काफी शिक्षाप्रद था क्योंकि उसमें मैंने एक ऐसे उद्देश्य-सम्पन्न व्यक्ति को देखा, जो उस महत्वपूर्ण सभा में शामिल होने के लिए दक्षिण एशिया आया और हमें यह बता गया कि दक्षिण एशिया के बारे में शेष दुनिया का क्या नजरिया है।

**रोशन धुन्जीभाँय :** मुझे लगता है कि धर्म के कई पहलू हैं। उनमें सबसे महत्वपूर्ण आध्यात्मिक पहलू है, जो नितान्त व्यक्तिगत और निजी अनुभव है, इसलिए प्रासंगिक नहीं है।

दूसरा, जो कई बाधाओं में से एक है और जिसको प्रो. शेठ ने रेखांकित किया है, सांस्कृतिक पहलू है। यह ऐसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में विकसित होता है, जो जगहों और लोगों के मद्देनजर भिन्न होता है। जैसे इस्लाम विभिन्न जगहों में अलग-अलग तरह का है, जबकि उसे अपने आप में केंद्रीकरणवादी धर्म माना जाता है। इसका स्वरूप दक्षिण एशिया के रू-ब-रू अरब देशों और उत्तरी अफ्रीका में जुदा है।

तीसरा पहलू अंधविश्वास है, जो धर्म का सुविधाजनक हिस्सा है। जैसे, आप पुत्र प्राप्ति या अन्य उसी तरह की चीज के लिए प्रार्थना करने अमुक मंदिर जाते हैं, आप बीमार हैं या मौत से भयभीत हैं तो किसी भगवान या दूसरी शक्ति को याद करते हैं।

धर्म का आज दिखनेवाला सबसे महत्वपूर्ण पहलू है उसका सत्ता-साधन के रूप में इस्तेमाल। दुर्भाग्य से हमारे आज के दौर में हम देखते हैं कि धर्म का बतौर सत्ता-अधिष्ठान इस्तेमाल किया जा रहा है।

पाकिस्तान में जमायत-ए-इस्लाम की राजनीति के पीछे यही है। वास्तव में वे धार्मिक लोग नहीं हैं। मैं उनको सही अर्थ में मुसलमान भी नहीं मानती क्योंकि वे लोग इस्लाम के कई मूल सिद्धांतों की अवहेलना करते हैं। वे धर्म की कुछ चुनिंदा बातों का महज सत्ता प्राप्ति के लिए उपयोग करते हैं। ठीक यही बात भारत में आरएसएस-विहिप के बारे में कही जा सकती है। यहां भी सत्ता पर नियंत्रण के लिए इधर-इधर से हिंदुत्व चिंतन और दृष्टि में से कुछ चुन लिया जाता है। ईसाइयों ने भी अपने पूरे इतिहास में यही किया है।

आज हमें इसी का मुकाबला करना है क्योंकि धर्म कई मामलों में अलोकतांत्रिक भी है। लेकिन आम इंसानों की आध्यात्मिकता, राजनीति और सत्ता के कारक के रूप में धर्म का उपयोग नहीं देख पाती है। मैं सोचती हूं कि हमें इन दोनों के बीच फर्क करना होगा। हमें दोनों से अलग-अलग ढंग से पेश आना होगा।

विश्व और ब्रह्मांड कैसे अस्तित्वमान है, धर्म उसकी व्याख्या करता है। साथ ही यह एक श्रेणीबद्ध प्रणाली है और अक्सरहां महिलाओं को नकारता है। कोई महिला पोप नहीं होती। उसके पादरी हो सकने को कई बार अमान्य किया जा चुका है। नन (मठवासिनी) के साथ संन्यासियों जैसा व्यवहार नहीं किया जाता। वे संन्यासियों के लिए आध्यात्मिक गुरु की बजाय खाना बनाने वाली और सफाई करने वाली औरत मात्र होती हैं। इसलिए यहां भी आप पितृसत्तात्मक समाज में धार्मिक संस्कृति को महिलाओं का बहिष्कार करते देखते हैं। महिला सशक्तिकरण का संघर्ष भी धार्मिक बहस का विषय बने क्योंकि यदि समता पानी है, तो महिलाओं को धार्मिक आंदोलनों में भी जगह बनानी होगी। जो लोग इस रहस्यमय सत्ता को नियंत्रित करते हैं, वे महिलाओं को यह सत्ता नहीं देते। महिलाओं के संघर्ष के लिए बराबरी का स्थान हासिल करना बहुत महत्वपूर्ण कारक है। बराबरी का स्थान यानी पुरुषों से ऊपर नहीं लेकिन उनके और उनकी क्षमता के बराबर।

**कमल मित्र चिन्नाय :** लोकतंत्र के आधार के रूप में धर्म सम्बंधी हमारी चर्चाओं में, मैं समझता हूं कि जाति की भूमिका और लगभग

सभी धर्मों पर उसके असर को नजरंदाज नहीं करना चाहिए। जाति के असर का यह आलम है कि केरल में ईसाई धर्म के तहत लैटिन चर्च, जिसमें इरेवा और अन्य पिछड़ी जातियों से धर्मान्तरित लोग शामिल हैं, का सीरियन ईसाइयों और अन्य के साथ कोई सामाजिक नातेदारी नहीं है। इसी तरह पंजाब में जाट सिखों की मठ सिखों या दलित सिखों से शायद ही कोई नातेदारी चलती है। मुस्लिम समुदाय में भी उच्च जातियों से धर्मान्तरित होकर आये लोगों का अन्सारी और कुरैशी जैसी जातियों से न के बराबर वास्ता होता है।

हम धार्मिक परम्पराओं को देखें, भारत में निर्मित उनका सामाजिक ताना-बाना लिंगभेद के सवाल के अतिरिक्त लोकतंत्र के लिए संसाधन ढूँढने के संदर्भ में भी सम्भवतः बहुत जटिल साबित होगा। मैं ऐसे किसी अन्य देश के बारे में नहीं जानता, जिसके पास मनुस्मृति जैसा कोई ग्रन्थ हो, जिसको आज भी उद्धृत किया जाता है या जहां के राजनीतिज्ञ, जिनमें राजमाता विजयाराजे सिन्धिया जैसी महिला राजनीतिज्ञ भी शामिल हैं, सार्वजनिक रूप से सती प्रथा को प्रासंगिक करार देते हैं।

दूसरा निवेदन यह है, जैसा कि हमने अतीत में भी देखा है, कि जब कभी जहां कहीं भी, जैसे मिस्र, अल्जीरिया, युगोस्लाविया आदि देशों में, आर्थिक सुधार और ढांचागत समायोजन के कार्यक्रम क्रियान्वित किये गये, राष्ट्रीयता के नाम पर जनजातीय आंदोलन पैदा हुए। युगोस्लाविया में ऐसा ही हुआ और मिस्र एवं अल्जीरिया में अतिवादी राजनीतिक इस्लाम पैदा हुआ। इसलिए दक्षिण एशिया में भी धार्मिक विवाद का जो रूप हमें दिखनेवाला है, वह पुरानी सूफी परम्परा, भक्ति परम्परा, गुरुनानक परम्परा या सिखवाद नहीं बल्कि अत्यंत रूढ़िवादी परम्परा का रूप ही होगा।

मैं कहना चाहता हूँ कि समस्या तो हमारे विमर्श और धर्म की हमारी पड़ताल में भी निहित है, जो पश्चिमी वैचारिक स्थापनाओं के कारण अत्यधिक जटिल हो गयी है। उन स्थापनाओं को इंटरनेट और अन्य साधनों से जारी तकनीकी क्रांति के जरिये फैलाया जा रहा है। उदाहरण के लिए, हम हिन्दू रूढ़िवाद (फंडामेंटलिज्म), इस्लामी

रूढ़िवाद जैसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं, लेकिन शायद ही कोई जानता होगा कि 'फंडामेंटलिज्म' शब्द का प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयों के लिए इस्तेमाल किया गया था। उनकी कई पुस्तिकाएं 'फंडामेंटल्स' कही जाती थीं। तात्पर्य यह कि अतीत के धर्म और धर्म के वर्तमान उपयोग की और ज्यादा सामाजशास्त्रीय पड़ताल होनी चाहिए। हमें यह भी पहचानना चाहिए कि वर्तमान में धर्म का इस्तेमाल परिवर्तन विरोधी प्रतिक्रिया भी साबित हो सकता है, भले ही यह गरीबों और वंचितों को अपील करे। धर्म के इस इस्तेमाल से अक्सर अवांछित किस्म के गठजोड़ पैदा होने की आशंका रहती है।

**महेन्द्र लावती :** मैं धार्मिक सहिष्णुता के नेपाली अनुभव बताना चाहता हूँ। नेपाल में, माना जाता है कि लोकतांत्रिक संविधान है, जिसमें राज्य को हिन्दू राज्य घोषित किया गया है। इसलिए, वस्तुतः हमारा राज्य संवैधानिक रूप से साम्प्रदायिक है। गैरहिन्दू महसूस करते हैं और देखते हैं कि उनके साथ भेद-भाव किया जाता है। उनके साथ बराबरी का व्यवहार नहीं किया जाता। हममें किसी तरह की जरा भी सहिष्णुता नहीं है। वस्तुतः यह चरम असहिष्णुता है।

यहां मैंने आरएसएस और शिवसेना आदि की उभार पर व्यक्त चिंता सुनी। नेपाल में इस चीजों के आदिरूप दो सौ सालों से विद्यमान हैं। लेकिन इन चीजों के बावजूद राज्य और प्रभु समुदाय द्वारा नेपाल को शांत और सद्भावपूर्ण समाज के रूप में प्रचारित किया जाता रहा है। लेकिन यह एक बड़ा मिथक है क्योंकि विभिन्न धार्मिक और विभिन्न सांस्कृतिक जातीय समूहों को विभिन्न स्तरों पर, जैसा कि प्रो. शेट ने कहा, प्रभुत्वशाली वंश के अधीन रहना है। आप कह सकते हैं कि प्रभु समूह के लिए नेपाल बिल्कुल शान्तिपूर्ण था। जिन लोगों के साथ असमान, निम्न जाति और गैर की तरह बर्ताव किया गया, उनको किसी तरह की मान्यता नहीं दी गयी और उन्हें अदृश्य मान लिया गया। उनके लिए नेपाल कभी भी शांतिमय समाज नहीं रहा। और, नेपाल तब तक शांतिपूर्ण नहीं हो सकता जब तक वह व्यवस्था के स्तर पर अन्य समूहों और अन्य धर्मों को मान्यता नहीं देता।

**जोसेफ गाथिया :** प्राचीन समय में भी हमारे समाज में ज्ञान का भेद था। जाति के नाम पर बहुत सारे लोगों को ज्ञान प्राप्त करने से वंचित किया गया। आधुनिक काल में भी, यद्यपि हमारे पास लोकतांत्रिक व्यवस्था है, नयी तकनीकी हस्तक्षेप के दौर में ज्ञान की खाई चौड़ी होती जा रही है। अब ज्ञान सिर्फ उन तक सीमित हो गया है, जो इसे खरीदने में समर्थ हैं। निजीकरण के कारण आम आदमी के लिए ज्ञान प्राप्त करना अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है। तो हम कैसे ज्ञान की खाई को पाट सकते हैं या कम कर सकते हैं? जब तक यह नहीं होता, तब तक हम किसी भी तरह के सांस्कृतिक कारक के सह-अस्तित्व की बात करें, लोकतांत्रिक प्रक्रिया सम्पन्न नहीं होगी।

**केसी नाहटा :** हमें संभवतः 'सहिष्णुता' की जगह 'सम्मान' शब्द को प्रतिस्थापित करना चाहिए। हमें सभी धर्मों और सामाजिक प्रणालियों का सम्मान करना चाहिए। रूढ़िवादी ताकतें हर समाज, हर धर्म, और सम्प्रदाय में मौजूद हैं। लेकिन ऐसे लोग भी हैं, जो उदार हैं, जिनमें किसी तरह की रूढ़िवादी सोच नहीं है। यह आज की चुनावी व्यवस्था है, जो रूढ़िवाद को बढ़ावा देती है। हमारी चुनाव प्रणाली अधूरी है और यदि हम इस प्रणाली पर विचार करें, तो रूढ़िवाद को कम कर सकते हैं।

**सुमान अदहाल :** मुझे प्रणाली के बारे में ज्यादा ज्ञान नहीं है लेकिन मैं एक सामान्य बात कहना चाहती हूँ कि धर्म सामाजिक सुरक्षा का भी साधन रहा है। अच्छा यह होगा कि दुनिया में, जहां हम अधिकाधिक असुरक्षा में घिरे हैं, धर्म का सामाजिक सुरक्षा के रूप में रचनात्मक उपयोग कर सकने पर विचार करें। असुरक्षा अधिकांशतः वैश्वीकरण से पैदा होती है, समाज के भीतर से भी आती है। यह सम्मान के मुद्दे से भी जुड़ी हुई है। यदि आप देश में विभिन्न धर्मों का सम्मान करते हैं, तो आप इस तथ्य का सम्मान करते हैं कि धर्म लोगों को सामाजिक सुरक्षा देता है। यह मनोवैज्ञानिक दबावों, जो हमारे समाज में बढ़ रहे हैं, को कम करने के लिए कुछ निश्चित आधार प्रदान करता है।

**अशोक कुमार सिंह :** असहिष्णुता सिर्फ संगठित धर्म से पैदा हो रही है। उन धर्मों से नहीं, जो मूल्यों पर आधारित हैं और जिन्हें देशज जनता या आदिवासियों ने धारण कर रखा है। लेकिन उनके धर्मों को अब तक मान्यता भी नहीं मिली है, सम्मान देने की बात तो दूर रही। संगठित धर्म मूल्य पर आधारित धार्मिक आचरणों को भी खत्म करने का प्रयास कर रहा है।

**अनीता घोष :** हाल ही में मैं नेपाल गयी थी। वहां 'कुमारी' (नेपाल की जिंदा कुमारी देवी) की पूजा की जाती है। निश्चित अवधि तक उसकी पूजा की जाती है, और बाद में उसके जीवन में कुछ नहीं रह जाता क्योंकि लम्बे समय तक बैठे रहने के कारण वह शारीरिक रूप से बेहद कमजोर हो जाती है। वे उसे कहीं भी जाने की अनुमति नहीं देते। उसे काम नहीं करने देते। हमें स्वीकार करना होगा कि विभिन्न जगहों में इस तरह की परम्पराएं विद्यमान हैं। हम जब ग्रासरूट लोकतंत्र और जनता की सहभागिता की बात करते हैं, तो हमें सोचना चाहिए कि इस तरह की परंपराओं के प्रति क्या रवैया हो।

**दीप्तिप्रिया मेहरोत्रा :** महिलाएं धर्म से ऊपर उठकर एक-दूसरे से समन्वय स्थापित करती हैं। रोजमर्रा जिंदगी के विभिन्न मुद्दों और अमूमन आंदोलनों और संघर्षों में उनमें एका होती है। दैनिक जीवन की एका उस पितृसत्तात्मक व्यवस्था, जिसका वे सामना करती हैं, के विरोध का एक रूप भी है। मैं इसके कुछ ठोस उदाहरण देना चाहती हूँ।

जब मैंने दिल्ली की गरीब बस्तियों में दाइयों के बीच काम किया, उनमें हिंदू और मुस्लिम दाइयां थीं और यह स्पष्ट था कि वे सबके घर आती-जाती हैं। उनमें ऐसा कोई विभाजन नहीं था कि मुस्लिम दाइयां सिर्फ मुसलमान घरों में जायेंगी और हिंदू दाइयां सिर्फ हिंदू घरों में। जो भी घर के नजदीक होती है और अच्छी मानी जाती है, जरूरत के वक्त उसे ही बुलाया जाता था। मैं ने महिलाओं से इस विषय पर बात की।

वहां जो महिलाएं निरक्षर, बहुत साधारण और एक तरह से पुरानी परम्पराओं से घिरी हुई थीं, उनका कहना था - 'देखिये, जन्म के मामले में हम उन महिलाओं में कोई फर्क नहीं करतीं। लेकिन मृत्यु के मामले

में बहुत फर्क पड़ जाता है। उस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं होता और कोई भूमिका भी नहीं होती।

समाज में बहुत कुछ हो रहा है। यदि हम आंदोलनों के भीतर देखें, तो बहुत सारी नाटकीय चीजें हो रही हैं। उदाहरण के लिए, दो बूढ़ी महिलाएं हैं। दोनों की एक-एक बेटी दामादों के दहेज के लोभ की बलि चढ़ गयी थी। अस्सी के दशक में दोनों मिलीं और अब पिछले दस-बारह सालों से दहेज और अन्य कारणों से उत्पीड़ित महिलाओं के लिए आश्रय गृह (शेल्टर होम) चला रही हैं। यह दिल्ली के चंद आश्रय गृहों में से एक है, जो 'शक्तिशालिनी' नाम से चर्चित है।

मैं अविवाहित मातृत्व का भार वहन करनेवाली महिलाओं के बीच काम कर रही हूँ। सबकी कहानी एक है, सिर्फ नाम अलग-अलग हैं। मैं समझती हूँ कि महिलाएं एक ऐसी ताकत हैं, जो लोकतंत्रीकरण के लिए कारगर ताकत बन सकती हैं। ऐसी ताकत, जो पुरुष विरोधी नहीं लेकिन पितृसत्ता के खिलाफ है।

**सी. लक्ष्मणन** : जैसा कि पहले दो वक्ताओं ने कहा, मैं भी सोचता हूँ कि हममें सहिष्णुता की बजाय सम्मान होना चाहिए। मुझे याद है कि 1998 में तीनमूर्ति में आयोजित एक संगोष्ठी में दक्षिण अफ्रीका के एक जज ने, जो ट्रुथ कमिशन के सदस्य भी थे, भाषण दिया। उन्होंने तीसरी दुनिया के देशों की समस्या के बारे में टिप्पणी की कि यहां लोग एक-दूसरे को स्वीकार नहीं करते, एक दूसरे को सम्बोधित नहीं करते और एक-दूसरे के प्रति आभार नहीं व्यक्त करते।

मान लीजिए दलित समाज में एक इंसान अपनी स्वीकृति के लिए संघर्ष करने का प्रयास करता है, तो अन्य लोग उसको उस रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। मुख्यधारा के बौद्धिक क्षेत्र में पढ़ने के लिए दलित साहित्य उपलब्ध नहीं है। मैं दावा नहीं कर रहा कि सारा दलित लेखन उत्कृष्ट है। लेकिन जिस लोकतंत्र में हम दूसरों को स्वीकार करेंगे, सम्बोधित करेंगे और सम्मान देंगे, उसी का तो कुछ मायने होगा।

**विनोद सहगल** : सामान्यतः 'अल्पसंख्यक' शब्द का धार्मिक और प्रजातीय अर्थ में इस्तेमाल किया जाता है। लेकिन मैं पाता हूँ कि दक्षिण एशिया के अधिकांश क्षेत्रों में, जहां कहीं जाति और धर्मों का भेद है, वहां समुदाय और लोग ऐसी जीवन शैली - एक दूसरे से बर्ताव करने के तरीके - अपना चुके हैं, जो सम्बद्ध जगह के बाहर किसी को प्रभावित नहीं करती। सभी धर्म मुखर अल्पसंख्यकों को बाहर कर रहे हैं। वे एकरूपता थोप रहे हैं, जो सामंजस्य के बदले तनाव पैदा कर रहे हैं। दूसरी बात यह कि पिछड़े समाजों में बाहरी तत्व मुक्तिदाता ताकत बने हुए हैं, वे ऐसे तनाव पैदा कर रहे हैं, जो अतीत में नहीं थे।

## वक्ताओं के जवाब

**इकबाल अन्सारी** : जब मैं सहिष्णुता की परम्परा के बारे में बात कर रहा था, तब भी मेरे दिमाग में यह था कि असहिष्णुता की परम्परा भी है, खासकर भारत और पाकिस्तान में। तो कोई इस पर कैसे बात करे? हम परम्परा की उपेक्षा नहीं कर सकते। मेरी वैचारिक मान्यता यह रही है कि लोग शून्य में नहीं रहते। सब तरह के क्रांतिकारियों सहित बहुत सारे लोग कहते हैं - 'इतिहास को लानत!' लेकिन लोग देश और काल में जीते हैं और परम्परा, खासकर दक्षिण एशियाई संदर्भ में, उनकी जिंदगी का हिस्सा है। मैं यहां यह कहना चाह रहा हूँ कि परम्परा हमारी सहभागी लोकतंत्र की कल्पना का अविभाज्य हिस्सा होनी चाहिए।

दक्षिण एशिया के मानव विकास से सम्बंधित महबूब-उल-हक की रिपोर्ट बताती है यदि मुस्लिम समाज में स्कूल हों और आप सह-शिक्षा पर जोर देंगे तो यह नहीं हो सकता। और अगर लड़के और लड़कियों के लिए अलग-अलग स्कूल होंगे, तो इसकी अधिक सम्भावना होगी कि माता-पिता अपनी बेटियों को स्कूल भेजें।

इसलिए हमें किसी परम्परा को खारिज करने के प्रति सावधान रहना चाहिए। हालांकि हमें असहिष्णुता, लोकतंत्र विरोधी और समता विरोधी परम्पराओं के मूल्यांकन में निमर्म होना होगा। मैं बता चुका हूँ कि मुसलम और हिन्दू समुदायों में भी जाति ऐसा तत्व था, जो

सहिष्णुता और समानता की परम्परा का विरोधी है। लिंग भेद के मुद्दे पर मैं सहमत हूँ। लेकिन यदि लैंगिक समानता की वास्तविक समस्या को लोकतंत्रीकरण के हिस्से के रूप में शामिल करना है, तो उनकी पूरी तरह उपेक्षा नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ, हमें 'सती' जैसी प्रथाओं की रचनात्मक पुनर्व्याख्या करनी होगी। ऐसी प्रथाओं को हमें 'न' कहना होगा क्योंकि इससे एक इंसान के जीने के मूल अधिकार का उल्लंघन होता है। महत्वपूर्ण बात है परम्पराओं और सामुदायिक मूल्यों और मानवाधिकार, स्वतंत्रता और समता के बीच सामंजस्य स्थापित करना।

मैं यह नहीं कहूँगा कि हमें धर्म से ऊपर उठना चाहिए और न ही यह कहूँगा कि उसे पुनर्जीवित करना चाहिए। क्योंकि दुनिया में इतिहास युक्लीडियन गति (यूनानी गणितज्ञ यूक्लिड के रेखागणित की स्थापनाओं से सम्बंधित गति) - रैखिक गति या तार्किक दिशा में नहीं चलता।

मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि हमें दक्षिण एशिया में धर्म की पूरी तरह से उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, जैसे नेहरू ने कोशिश की और उनके बाद धर्मनिरपेक्ष रूढ़िवादी करते आ रहे हैं। उन्होंने भरोसा किया और आज भी भरोसा कर रहे हैं कि आर्थिक समृद्धि इस समस्या को सुलझा देगी। लेकिन मैं कहता हूँ - 'नहीं।'

महिलाओं के लिए उनके बराबरी के अधिकारों के संघर्ष सहित सभी समुदायों के साझा संघर्ष में मुस्लिम और हिन्दू महिलाओं के आर्थिक अधिकारों का सम्मान किया जाना चाहिए। मेरे लिए विचारणीय यह है कि समुदायों की सहभागिता और उनकी एकजुटता कैसे कायम हो।

**इम्तियाज अहमद :** हम परम्परा शब्द का इस तरह प्रयोग कर रहे हैं, जैसे वह कोई चीज है, जो अमुक जगह मौजूद है, जिसको हम खींचकर ला सकते हैं और अपने सन्दर्भों में लागू करना शुरू कर सकते हैं। मेरी समझ से परम्परा जनता के अतीत का ऐसा अनिवार्य हिस्सा है, जो वर्तमान उद्देश्यों के लिए प्रासंगिक होती है। इसलिए सभी परम्पराओं को अपने विकास की प्रक्रिया में पुनर्निर्माण से गुजरना पड़ता है और सवाल यह बनता है कि ऐसा क्या है जिसको हम किसी भी समय की

परम्परा विशेष से ले सकते हैं? इसके लिए संदर्भ पर निगाह डालने की जरूरत है। मैं इसी सन्दर्भ की ओर ध्यान आकृष्ट करने की कोशिश कर रहा हूँ, जो बहुत ही प्रासंगिक है।

लिंग भेद के मामले में मैं एक समस्या पेश करूँगा, जो मुझे लम्बे समय से परेशान करती आ रही है। आज जब हम लैंगिक समानता की बात करते हैं, तो यह बात हम पश्चिम से लिये गये उदार लोकतांत्रिक मूल्यों के तहत करते हैं। इसलिए जब हम समानता, लैंगिक समानता की बात करते हैं, तो उन निर्धारित मूल्यों की सीमाओं में करते हैं, जो उदार लोकतंत्र से प्राप्त किये जाते हैं। तो क्या हम यह कह रहे हैं कि परम्पराओं में, जैसे कि हम उन्हें समझते हैं, लोकतंत्र या समानता का बोध नहीं था?

समानता के हिन्दू विचार या लोकतंत्र की मुस्लिम धारणाएं रही होंगी। लेकिन इस पूरे विमर्श में वास्तविक समस्या यह है कि परम्परा समानता के पश्चिमी उदारवादी विमर्श से संगति बिटाने में कठिनाई महसूस कर रही है। महिलाएं और नारीवादी परम्परागत लोकतंत्र से संगति बिटाने में कठिनाई महसूस करते हैं। वे इस मुद्दे पर खूंटें से बंधे हैं। आज की विरोधाभासी स्थितियों के रू-ब-रू जब हम वैचारिक अन्तर्वस्तु की बात करते हैं, उदाहरण के लिए मुस्लिम महिलाओं के संदर्भ में, तो असली बहस समानता की उदार धारणा से सामंजस्य बिटाने पर टिक जाती है कि कैसे समता के कथित इस्लामी भावबोध की पाश्चात्य के साथ संगति बिठाएं। यह जटिल एवं कठिन है। लेकिन यदि मुस्लिम महिलाओं की स्थिति में सुधार लाना है, तो आज न कल इस वैचारिक पुनर्रचना का प्रयास अनिवार्यतः करना होगा। यह नाजुक बिंदु है।

अल्पसंख्यकों की धारणा के मामले में यह समझा जाता है कि जहां बहुसंख्यकों का स्वभाव बदलता है, वहां अल्पसंख्यक भी उतने ही जालिम और दमनकारी होकर अपने अंदर के समूह में लौटते हैं। इसलिए पहले अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों के बीच असहिष्णुता पैदा होती है और फिर अल्पसंख्यकों के अंदर अल्पसंख्यक और अल्पसंख्यक के बीच असहिष्णुता पैदा होती है। यह दोहरे किस्म की असहिष्णुता है।



जब तक लोकतांत्रिक ढांचा मजबूत नहीं होता, यह समस्या रहेगी। वस्तुतः यह ऐसी समस्या बन जाती है, जिसे आप 'अल्पसंख्यकों का जुल्म' कह सकते हैं। लोकतांत्रिक ढांचे में शाहबानो प्रकरण इसका सटीक उदाहरण है, जिसमें अल्पसंख्यक निरंकुश और निश्चित विश्व दृष्टि को पकड़े रहने के दावे पर ज्यादा जोर देते नजर आते हैं। और, इतना ही नहीं, लोकतांत्रिक अन्योन्यक्रिया में किसी के भी दावे की सख्त सीमाएं खिंचती हैं। लोकतांत्रिक ढांचे में रहते हुए कोई स्वयं को इस संदर्भ से काटकर नहीं रख सकता। मैं मानता हूँ कि समूह की पहचान बहुत महत्वपूर्ण है, पर्सनल लॉ महत्वपूर्ण है। लेकिन पर्सनल लॉ का दावा इतना व्यापक नहीं हो सकता, जिसमें इस तथ्य की उपेक्षा कर दी जाय कि किसी को भी उसे लोकतांत्रिक व्यावस्था के तहत ही लागू करना है। मेरा कहना यह है कि परम्पराओं की आन्तरिक चर्चाओं के केंद्र में भी लोकतंत्र होता है, जैसा कि यह परम्पराओं के बीच या समुदायों के बीच तथा छोटी दुनिया के बीच होता है।

**डीएल शेट :** मैं इस बारे में चर्चा करने की कोशिश कर रहा था कि धर्म और लोकतंत्र के मुद्दे पर कैसे नव उपनिवेशवादी विमर्श से बाहर निकला जाये। यहां यह प्रदर्शित हो गया कि अभी भी हम नव उपनिवेशवादी विमर्श में फंसे हुए हैं। हम रक्षात्मक टिप्पणी करते हैं - 'देखिये, आप धर्म से ऊपर नहीं उठ सकते।' हां, हम धर्म से परे नहीं जा सकते। मैं नहीं समझता कि कोई जा सकता है। मुद्दा यह नहीं है। लेकिन हमारा वास्तविक डर उसके प्रति है जो वही सवाल पूछता है।

दूसरों के धर्म का सम्मान करने के मायने में परे जाने का यह अर्थ बहुत खतरनाक राजनीतिक वक्तव्य है कि इस सम्मान के जरिये आप उस धर्म को बगैर किसी आलोचना के स्वीकार कर सकते हैं। यह एक बड़ा इस्लामी डर है। तब क्यों आप मनु और अन्यों जैसे व्यक्तियों और प्रतीकों को नापसंद करते हैं? मुझे लगता है, अवचेतन में यह भय होता है कि लोग उनकी पूजा करना शुरू कर देंगे। इसलिए जब सम्मान के अर्थ में डर निहित है, तब सम्मान आसान शब्द नहीं है। दक्षिण एशिया के सन्दर्भ में, औपनिवेशिक विमर्श में भी एक डर है, जिसका निहितार्थ यह है कि आधुनिकतावाद और इस तरह की सब चीजें हमें पूरी तरह

से गुटों में बिखर जाने के लिए उकसायेगीं जबकि हमें समुदाय के रूप में बने रहना है। मैं उसके खिलाफ नहीं हूँ।

इसलिए मैं विमर्श के पहलू पर जोर देता हूँ। दो आयाम हैं। एक, अपने बारे में औपनिवेशिक परिभाषाओं को स्वीकार करना और परम्परा, जाति, मनुस्मृति की चर्चा करने से डरना क्योंकि हम इसके तहत कोई समाधान नहीं कर सकते। इसलिए आप डरे हुए हैं कि यह आपको एक तरह की मध्यकालीनता की ओर लौटा ले जायेगा। दूसरा डर इसके ठीक उल्टा है। कि इस तरह का तर्क हमारी उन तमाम परम्पराओं, संस्कृति, पहचान, अच्छाई और मूल्यों को लूट लेगा, जिनसे हम परिचित हैं और जिनका हमने संरक्षण किया है। यह हमें तबाह और बरबाद कर देगा। ये दोनों डर नव उपनिवेशवादी विमर्श के हिस्से हैं, जिनसे मैं बाहर निकलने की कोशिश कर रहा था।

ऊपर उठने से मेरा मतलब था कि आप अपनी धार्मिक पहचान से ऊपर नहीं उठते। असली मुद्दा, जिस ओर रौशन और सहगल ने बखूबी इंगित किया कि इस तरह की पहचानों के मामले में सुरक्षात्मक होने की कोशिश करने से हम उनके इर्द-गिर्द की विकृतियों को वैध कर सकते हैं। तब उसके साथ विकृतियों को मान्यता देनी पड़ती है। क्षमा याचनाओं से काम नहीं चलता। विकृतियां आखिर विकृतियां ही होती हैं। और, यह तमाम धार्मिक पहचानों के लोगों पर लागू होता है, जैसे कि इकबाल ने कहा कि इस्लाम कैसे सहभागिता का धर्म है। छुआछूत, सती प्रथा आदि विकृतियां हैं, यह स्वीकार करना होगा। ऊपर उठने से मेरा मतलब यही था।

आज के धर्म के बारे में महत्वपूर्ण बात यह है कि यह लोकतांत्रिक राजनीतिक संगठन का कुछ अन्य कल्पनाओं के जरिये सामने आ रहा है - यह भविष्य में कोई आदर्श हो सकता है या हो सकता है कि अतीत का आदर्श रहा हो। तमाम धार्मिक संगठनों को तमाम राजनीतिक संगठनों से खतरा है। सभी धार्मिक राजनीतिक संगठन अच्छे हो सकते हैं, लोकतंत्र से भी अच्छे हो सकते हैं। लेकिन ये सभी संगठन लोकतंत्र के खिलाफ कतार बांधे खड़े हैं। इसलिए सभी राजनीतिक संगठनों में धार्मिक संगठनों के प्रति एक जैसा संदेह है। ये

ही अर्न्तद्वन्द्व हैं, जिन्हें सुलझाने की जरूरत है ताकि आज तक हमने जिन अर्थों में समझा है, उनसे अलग अर्थों में लोकतंत्र को पुनर्परिभाषित करना सम्भव हो। इसे अलोकतांत्रिक होने की जरूरत नहीं क्योंकि यह एक मायने में लोकतांत्रिक सिद्धांतों की धार्मिक राजनीतिक संगठनों में पैठ है।

हिन्दू हितों का प्रतिनिधित्व कौन करता है? क्या 'हिन्दूवाले' हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं? हिन्दुत्व क्या है? और, उन लोगों का क्या होगा, जिनकी हिन्दू पहचान नहीं है? दरअसल, बहुसंख्यक हिन्दू 'हिन्दुत्व' का समर्थन नहीं करते। उनमें वे लोग भी शामिल हैं, जो भारतीय जनता पार्टी को वोट देते हैं। यही समस्या है। अल्पसंख्यक भी इसे अपनाने की कोशिश कर रहे हैं। अन्य धार्मिक अस्मिताओं से लैस लोगों के लिए भी यही सच है - उनमें वे लोग हैं, जो इसके या उसके, लिंगभेद के मुद्दे आदि के खिलाफ हैं। इसके समाधान का रास्ता लोकतांत्रिक प्रक्रिया के सिवा कुछ नहीं है। लेकिन प्रतिनिधिमूलक लोकतांत्रिक प्रक्रिया एक तरह के मति-भ्रम का शिकार हो गयी है। अल्पसंख्यकों के सम्मान और उनके हितों के नाम पर अन्यायी अल्पसंख्यक तथाकथित अपने लोगों के हितों के लिए समझौता करते हैं, जो असलियत में उनके हित में न हो। लेकिन वे प्रवक्ता बन जाते हैं। यह गम्भीर लोकतांत्रिक और राजनीतिक मुद्दा है। इसको कोई कैसे सुलझाये? कौन किसके हित का प्रतिनिधित्व करता है?

**झालानाथ खानाल ( विमर्श सत्र के अध्यक्ष ) :** दक्षिण एशिया दुनिया में अन्तरतम विविधता का क्षेत्र है। विविधता के इस संदर्भ में हम लोकतांत्रिक व्यवहार को कैसे विकसित कर सकते हैं और उसको सुदृढ़ कर सकते हैं? वैश्वीकरण के इस युग में यह बहुत बड़ी चुनौती है। हमारे पास चुनाव की सही प्रणाली नहीं है। दक्षिण एशियाई लोकतंत्र अभी भी पूर्णता तक नहीं पहुंच पाया है। यह अभी विकास की प्रक्रिया में है। महेन्द्र लावती ने सही कहा कि नेपाल में हमारे सामने हिन्दू राज्य की समस्या है। नेपाल लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया से गुजर रहा है। ग्यारह-बारह वर्ष पहले हमलोग निरंकुश शासन व्यवस्था में रहते थे, जो अब उत्तरोत्तर लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया में तब्दील हो रही है। लेकिन

अपने समाज के मूल ढांचे को बदले बगैर हम कई चीजों को नहीं बदल सकते।

अन्य सवाल भी हैं, जैसे अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों के बीच क्या रिश्ता होना चाहिए? सामाजिक-आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया में कुछ समस्याएं सुलझेंगी। धार्मिक और सामाजिक सहिष्णुता की परम्परा लोकतंत्र का आधार बन सकती है।

## भ्रष्टाचार : लोकतंत्र के लिए चुनौती

विचार

भारत में भ्रष्टाचार

विश्वबंधु गुप्ता

नेपाल में भ्रष्टाचार

हरि रोका

भ्रष्टाचार और सांप्रदायिकता : राजनीति के  
अलोकतांत्रिक पहलू

विजय प्रताप

विमर्श

विचार

## भारत में भ्रष्टाचार

विश्वबंधु गुप्ता

मुझे अभी भी आदर्शवाद के वे दिन याद हैं, जब हम 1973 में दिल्ली विश्वविद्यालय में हुआ करते थे। मैं दिल्ली स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स का छात्र था। हमें लोकतंत्र, समता आदि पर विश्वास था। तब हमारे यहां बहुत मजबूत मार्क्सवादी-लेनिनवादी आन्दोलन चल रहा था। दिल्ली पुलिस ने हमारे कुछ दोस्तों को गिरफ्तार किया था। हम मार्क्सवाद पर विश्वास नहीं करते थे लेकिन जिन लोगों को गिरफ्तार किया गया था, वे मार्क्सवादी थे।

आज 25 वर्षों बाद, मैं सीएसडीएस वापस आया, तो मुझे कार्यालय को ढूँढने में काफी मशक्कत करनी पड़ी। मैं काफी बदलाव देखता हूँ। कुछ नये पेड़ लगाये गये हैं। कुछ काफी लम्बे और बड़े हो गये हैं और अब तो भवन के सामने सुन्दर बागीचा भी है। व्यवस्था के प्रति मेरी समझ भी बदल गयी है। व्यवस्था भी बदल रही है। मैं, ईमानदारी से कहूँ तो, अगर कोई नवयुवक मुझसे पूछे कि क्या उसे उन मूल्यों के लिए लड़ना चाहिए, जो हमारे संविधान में प्रतिष्ठापित हैं, तो मेरी सलाह होगी - 'लड़ो, लेकिन सावधान रहो। जो दुश्मन तुम्हारे मुकाबले में खड़े हैं, वे और कोई नहीं, तुम्हारे अपने दोस्त हैं। दोस्त से मेरा मतलब है - सरकार।'

मुझे इस बात का अहसास बहुत देर से हुआ कि भारत में सरकार दुश्मन है। सिर्फ तीन या चार साल पहले हुआ, जब मैंने दाउद इब्राहिम

के एक खास आदमी को दिल्ली में साक्षत देखा। मुझे भारत में भ्रष्टाचार के फैलाव के बारे में अच्छी-खासी जानकारी थी लेकिन इसका कतई अहसास नहीं था कि इसकी खाई इतनी गहरी है। भारत में आईएसआई की गतिविधियों से सम्बंधित कागजात क्यों सार्वजनिक नहीं किये जाते, इसका एक कारण यह भी है क्योंकि इससे सम्बंधित साक्ष्य, जो गृह मंत्रालय द्वारा जुटाया गया था या जुटाया गया है, बताता है कि दाउद इब्राहिम के आदमियों से पैसा पाने वालों में ऐसे लोग भी हैं, जो देश चलाते हैं। मुझमें फिलहाल जनता के बीच इसका खुलासा करने का साहस नहीं है लेकिन एक दिन करूंगा। लेकिन इसके लिए ब्लैक कैट कमांडो की सुरक्षा का घेरा लिये भीषण मुकाबला मोल लेना होगा।

सच्चाई यह है कि भारत में लगभग 400 हजार करोड़ रुपये का अदृश्य एवं काला धन चलन में है। यह सिर्फ अनुमान नहीं है। बिल्कुल सच है - 15 प्रतिशत ज्यादा या कम। इस धन के अपने सम्बंध और संश्रय हैं। कई लोग जो दिल्ली टाइम्स के आकर्षक पेज में जगह पाते हैं, देश के कुछ प्रसिद्ध उद्योगपति, रईस लोगों के अपराधी मफिया से सम्बंध होने के साक्ष्य हैं, जिनको अभी तक सार्वजनिक नहीं किया गया है। त्रासदी यह है कि देश के समाचार पत्र इस तरह की कई खबरों को छापने से मना कर देते हैं। तहलका डॉट कॉम अपवाद है। मैं नहीं जानता कि तहलका डॉट कॉम कैसे हुआ। इस मामले में गंभीर शास्त्रीय पड़ताल जरूरी है।

जब रमेश शर्मा का मामला प्रकट हुआ तो प्रधानमंत्री कार्यालय कई समाचारपत्रों के मालिकों को फोन पर यह कहने के लिए सक्रिय हुआ कि उनके अखबारों में रमेश शर्मा या दाउद इब्राहिम और अन्य के बारे में कुछ भी प्रकाशित नहीं होना चाहिए। मेरे कई सम्पादक मित्रों ने, क्षमायाचना के साथ, मुझे निजी तौर पर बताया - 'देखो भाई, हमें अपनी रोजी-रोटी का ख्याल रखना है। इस देश में कुछ पवित्र गायें हैं, जिनको हलाल नहीं किया जा सकता।' मैं सोचता हूँ कि देश में सबसे ज्यादा बिगाड़ पैदा करनेवाला भ्रष्टाचार, नशीले पदार्थों की तस्करी जैसा विनाशक भ्रष्टाचार है - चुनावी टिकट की खरीद-फरोख्त और राजनीतिक दलों द्वारा धनार्जन। एक व्यक्ति ने (मैं नाम नहीं लेना चाहता) हरियाणा

विधान सभा चुनाव में टिकट पाने के लिए 75 लाख रुपया दिया। इसकी जांच जारी है।

रुपया ग्रहण करनेवाला देश का प्रमुख नेता है। वह आदमी यह कहने हमारे पास आया कि वह अपना पैसा वापस चाहता है क्योंकि उसे टिकट नहीं मिला। हमें यह सब बड़ा विचित्र लगा। वह महानुभाव रोहतक का है। हमने अधिक जानकारी चाही। तो उसने बताया कि दिल्ली की अमुक जगह, अमुक समय पर, अमुक पार्टी का आदमी आया, जिसे पहली बार एकमुश्त 45 लाख रुपया दिया गया और 30 लाख रुपया दूसरी खेप में दिया गया। हमने जांच की और सूचनाएं सही निकलीं। देश की एक शक्तिशाली पार्टी के सबसे शक्तिशाली नेता ने ये 75 लाख रुपये लिये थे। हमने उस आदमी से कहा - आप मूर्ख हैं। उसने पूछा - क्यों? मैंने कहा - आपने 75 लाख रुपये क्यों दिये? उसने कहा - टिकट पाने के लिए। हमने कहा - आपको टिकट नहीं मिला क्योंकि आपने यह लेन-देन हमारे माध्यम से नहीं किया।

एक व्यक्ति विधान सभा की सदस्यता के टिकट के लिए 75 लाख रुपये का भुगतान करता है, तो वह जरूर यह हिसाब कर लेता होगा कि अगर वह चुनाव में जीत गया, तो कितना पैसा बनायेगा। हम इन्हीं तथ्यों की जांच-पड़ताल करना चाहते थे क्योंकि हमने सोचा कि यह भ्रष्ट राजनेताओं पर कील ठोकने का अच्छा मौका है। इसलिए हमने बयान दर्ज किया और साथ में कुछ अन्य साक्ष्य भी जमा किये। तथ्य सही निकले। लेकिन सम्बद्ध व्यक्ति किसी कारणवश प्राथमिकी दर्ज करने को तैयार नहीं था। ये फैसले ऐसे हैं, जिसके लिए आप किसी को बाध्य नहीं कर सकते। उसका 35 लाख रुपया वापस हुआ।

शर्मनाक पहलू यह है कि यदि आप भारत में किसी राजनीतिक पार्टी के पदाधिकारी बनते हैं, तो अधिसंख्य मामलों में आप धन की कमाई कर सकते हैं। बंगारू लक्ष्मण के केस में आप यह देख सकते हैं, जो अब सार्वजनिक हो चुका है। बंगारू लक्ष्मण वही कर रहे थे, जो वह हमेशा से करते आ रहे थे। अन्तर सिर्फ यह था कि इस बार वहां एक कैमरा था। आज कोई राजनीतिक नेता किसी से तब तक नहीं

मिलता, जब तक उससे रुपये की बात नहीं की जाती। कैमरा के बिना भी आप यह देख सकते हैं कि आप जितना पैसा देंगे, उसी अनुपात में आपको राजनीतिज्ञों से मिलने का समय मिलेगा। बंगारू लक्ष्मण ने कम समय दिया, क्योंकि उन्हें सिर्फ लाख रुपया मिला। यदि उनको करोड़ रुपये मिलते, तो वे विस्तार से बात करते।

त्रासदी यह है कि हमारी व्यवस्था पूरी तरह से पतित हो चुकी है और जब तक कोई बड़ा जनांदोलन नहीं होगा, मुझे नहीं लगता कि निकट भविष्य में कोई परिवर्तन होगा। हमारे पड़ोसी देशों की स्थिति भी इससे अलग नहीं है। यदि भारतीय लोकतंत्र अस्थिर होगा, तो आप कल्पना कर सकते हैं कि नेपाल में क्या होगा। दरअसल, तमाम प्रमुख क्षेत्रों - न्यायपालिका, पत्रकारिता और निस्संदेह राजनीति - में, भारतीय जीवन के हर क्षेत्र में दुर्बलता व्याप चुकी है।

निजी तौर पर कहूं, तो भ्रष्टाचार से मुकाबले का रास्ता कानून में नहीं है। दबाव में भी नहीं है। इसके लिए आर्थिक योजना के मॉडल को बदलने की जरूरत है, जिसमें योजना के केन्द्र में 'आम आदमी' हो। जब आप भारत का बजट बनाते हैं, तो सौ करोड़ों लोगों को संसाधन बनायें। पूंजी की बात छोड़ें, टेक्नॉलाजी की बातों में न उलझें।

## नेपाल में भ्रष्टाचार

### हरि रोका

‘सिंह दरबार के कुछ मंत्रियों ने बदबू फैलाना शुरू कर दिया है और यह बदबू जनता में फैलने लगी है।’ नेपाल में बहुदलीय लोकतंत्र की पुनर्स्थापना के लिए अन्तरिम सरकार के गठन के बाद यही कहा था लोकतंत्र की पुनर्स्थापना के लिए चले जनांदोलन के सर्वोच्च नेता स्व. गणेशमान सिंह ने। 1990 के राजनीतिक परिवर्तन के बाद किसी राजनीतिक दल के नेता का भ्रष्टाचार पर यह पहला सार्वजनिक बयान था।

नयी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना के तुरत बाद एक तरह के आशावाद का संचार हुआ था। आम जनता राष्ट्र के नवनिर्माण में स्वयं को शामिल करने के लिए तैयार थी। यहां तक कि सरकारी कर्मचारी भी समझ रहे थे कि जनता के कार्यों का निष्पादन अधिक दक्षता और बगैर भ्रष्टाचार के करना होगा। लेकिन गणेशमान सिंह के बयान ने इस बात का कड़ुआ अहसास करा दिया कि शायद चीजें ज्यादा नहीं बदली हैं। लोकतंत्र पारदर्शी और खुली व्यवस्था थी। इसलिए लोकतांत्रिक सन्दर्भ में भ्रष्टाचार भी पारदर्शी और खुलेआम होने लगा था।

भ्रष्टाचार को परिभाषित करना आसान नहीं है। किसको हम भ्रष्टाचार कहें और किसे नहीं? इसका उत्तर देना आसान नहीं। दरअसल, जिसे भ्रष्टाचार कहा जाता है, उसकी कोई सीमा नहीं है। हमें इसको सिर्फ कानूनी अर्थों में ही सीमित नहीं रखना चाहिए क्योंकि यह जनता की नैतिकता का भी मुद्दा है। इस दृष्टि से देखा जाय तो यह निराशाजनक दृश्य दीखता है। देश में हम भ्रष्टाचार में डूबे हुए हैं। मैं कुछ उदाहरण पेश करूंगा।

सबसे पहले मलिक कमीशन की रिपोर्ट को डम्प कर कूड़ेदान में फेंक दिया गया। इस तरह पंचायती राज के भ्रष्ट लोगों को छोड़ दिया गया। मलिक कमीशन की स्थापना 1990 के राजनीतिक बदलाव के तुरन्त बाद अन्तरिम सरकार ने पिछले शासन के कुकृत्यों की जांच के लिए की थी। उसने उन लोगों को चिन्हित किया था, जो प्रत्यक्ष या

अप्रत्यक्ष रूप से भ्रष्टाचार के साथ-साथ जन आंदोलन के हिंसक दमन में शामिल थे। इस रपट को वास्तव में कभी भी सामने नहीं लाया गया। पहले के शासन के कारनामों की निरंतरता बनी रही।

नयी चुनी हुई सरकार के सत्ता में आने के बाद घपलों-घोटालों का तांता लग गया। विदेशी मुद्रा घोटाला और आरएनएसी घोटाला दो प्रमुख घोटाले थे, जिनने नेपाली कांग्रेस पार्टी की निर्वाचित सरकार का चेहरा बेनकाब कर दिया। भ्रष्टाचार के मामलों की जांच के लिए स्थापित एजेंसियां मौन और निष्क्रिय बनी रहीं। न्यायपालिका भी इस पर कोई रुचि नहीं दिखा रही थी।

मध्यावधि चुनाव के बाद नेपाल की कम्यूनिस्ट पार्टी (एमाले यानी एकीकृत मार्क्सवादी-लेनिनवादी) सत्ता में आयी लेकिन कोई खास अन्तर नहीं था। भ्रष्टाचार की निरंतरता बनी रही। पार्टी ने इस दौरान राजमहल जैसा अपना कार्यालय बनाया - अधिसंख्य लोग नहीं जानते कि पैसा कहां से आया। अविश्वास प्रस्ताव पेश होने पर सरकार को अपदस्थ होने से बचाने के नाम पर सांसदों को खरीदने की कोशिश की हद तक एमाले चली गयी।

गठबंधन शासन के दौरान हुए जोड़-तोड़ भी कुछ अलग नहीं थे। दरअसल इसी दौर ने देश में भ्रष्टाचार को सही मायने में संस्थाबद्ध होते देखा। विदेशी भोज और करमुक्त लक्जरी वाहन इस दौर के ठोस दृष्टांत हैं।

लेकिन यह भ्रष्टाचार सिर्फ राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रहकर कई क्षेत्रों में फैल गया। बौद्धिक वर्ग, जो भ्रष्टाचार के कारण देश में पैदा हो रही बुराइयों के लिए राजनीतिक नेताओं और दलों को कोसते थकता नहीं था, खुद भ्रष्टाचार में गहरे डूब गया। उसे गरीबी और विकास के नाम पर बड़ी कन्सल्टेन्सी फीस लेने में कोई परेशानी नहीं होती। विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक, जो कक्षाओं में पढ़ाने या अच्छे स्तर का शोधकार्य करने की बजाय अपना समय और संसाधन ‘बोर्डिंग स्कूल्स’ या ‘कोचिंग सेंटर्स’ का निजी साम्राज्य खड़े करने में खर्च करते हैं, भी कम भ्रष्ट नहीं हैं।

फिलहाल भ्रष्टाचार के कारण हमारे यहां त्रिंशकु संसद है। यह पिछले कई महीनों से काम नहीं कर पा रही है। आस्ट्रियन एयरलाइन्स से विमान किराये पर लेने के मामले में हमारे तत्कालीन प्रधानमंत्री पर घूसखोरी का आरोप है। इस मामले में संसद में काफी हंगामा हुआ और स्पीकर को बार-बार सत्र को स्थगित करना पड़ा।

लोकतंत्र की पुनर्स्थापना के बाद अभी भी हमें एक कार्यक्रम की जरूरत है, जिसमें भ्रष्टाचार के लिए जगह न हो। घूसखोरी और भ्रष्टाचार के कई मुकदमे अदालतों में दर्ज किये हुए हैं। केंद्र से लेकर गांव स्तर तक यही आलम है। गांव विकास समिति के प्रतिनिधियों को अब सीधे केंद्र से पांच लाख रुपया मिलता है, जिसकी वजह से ग्रामीण स्तर पर भी भ्रष्टाचार बढ़ा है। जिला स्तर पर भी यही स्थिति है। अब तो ऐसे व्यक्ति को ढूंढना लगभग असम्भव है, जो भ्रष्टाचार में लिप्त न हो।

भ्रष्टाचार को फलने-फूलने में खाद-पानी तरह मदद करनेवाले कई तत्व हैं। बाजार की ताकतों और अन्य ताकतों सहित राँ या आईएसआई जैसी खुफिया एजेंसियों ने भी इसको बढ़ावा दिया है। चुनाव के दौरान इन एजेंसियों द्वारा पार्टियों को धन उपलब्ध कराया जाता है। यहां तक कि सन्धियों पर हस्ताक्षर के वक्त इन एजेंसियों ने निर्णायक भूमिका निभाई है। यह अफवाह भी है कि नेपाली संसद में महाकाली सन्धि के पारित होने के दौरान इन्होंने अपने पक्ष के समर्थन के लिए निर्वाचित प्रतिनिधियों (सांसदों) को घूस खिलाया था।

भ्रष्टाचार का मूल कारण संस्थागत ढांचों - राज्य, दलों और अंततः समाज - में है। यह वैयक्तिक नैतिकता का भी परिणाम है। राज्य की संस्थाएं सर्वथा अपारदर्शी हैं। दलों की भी यही स्थिति है। यहां तक तक कि नागरिक समाज भी, जो खुद को राजनीतिक व्यवस्था की इन सब कमजोरियों से ऊपर होने का दावा करता है, वह भी गहरे भ्रष्टाचार में डूबा हुआ है। मुख्य चुनौती इन संस्थाओं को बदलने की है ताकि अधिक से अधिक लोगों की इनमें सीधी भागीदारी हो। नेपाल में भी लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया के लिए यह एक महत्वपूर्ण एजेंडा है।

## भ्रष्टाचार और साम्प्रदायिकता : राजनीति के अलोकतांत्रिक पहलू

विजय प्रताप

सत्र के दशक से भारतीय राजनीति में समाविष्ट भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता और सामाजिक पहचान की चिन्ताएं लोकतंत्रीकरण की प्रक्रियाओं की विरोधी ताकतों के रूप में उजागर हुई हैं। 1974 के जे.पी. आन्दोलन से अबतक, पिछले 27 सालों में लोगों ने जीवन के इस कटु यथार्थ - भ्रष्टाचार - के प्रति अपना विरोध व्यक्त किया है। वे आज भी इसे एक आदर्श के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहते। यह किसी गांधीवादी लोकतांत्रिक-समाजवादी परम्परा में दीक्षित कार्यकर्ता की वैचारिक टिप्पणी नहीं है। इसके कई-कई और पर्याप्त प्रमाण हैं कि आम लोग भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ने के हथियार ढूँढ रहे हैं ताकि वे मर्यादा और स्वधर्म पर टिका जीवन जी सकें।

लोग भ्रष्टाचार से नाता तोड़ना चाहते हैं क्योंकि भ्रष्टाचार और भ्रष्ट व्यवस्था को उन्होंने अपनी इच्छा से नहीं स्वीकार किया है। वह तो उन पर थोपी दी गयी है। पश्चिमी उद्योगवाद में निहित पागल उपभोगवाद की नकल करने की सांस्कृतिक-मनोवैज्ञानिक 'मजबूरी' के मारे अभिजात वर्ग भ्रष्टाचार में लगातार धंसता जा रहा है। बहुसंख्यक गरीब भी तब अपने अस्तित्व मात्र के लिए वही करने को बाध्य होते हैं। वंचितों की राजनीति की चौतरफा विफलता और टूट-फूट ने भी भ्रष्टाचार को सर्वव्यापी तथ्य मानने को हवा दी है।

1996 में जब राष्ट्रीय चुनाव हुए थे, तब कई प्रमुख राजनीतिक दलों के नेता हवाला कांड की चपेट में थे। हालांकि उसमें वामपंथी दलों, मुलायम सिंह की समाजवादी पार्टी और कांशीराम की बहुजन समाज पार्टी के नेता शामिल नहीं थे। हवाला डायरी में जनता दल के सिर्फ दो नेताओं के नाम के आगे छोटी राशि दर्ज थी। कांग्रेस पार्टी, जिसका नैतिकता का ताना-बाना तार-तार हो चुका था, के कई नेताओं के नाम निस्संदेह इस घोटाले से जुड़े हुए थे। असल में 1977 और 1989 के छोटे अन्तराल को छोड़ आजादी के बाद से देश पर इसी पार्टी ने राज किया है। विरोधी दल अपने-अपने एजेंडा को छोड़कर 'कांग्रेस विरोध' के नाम पर एकजुट हुए थे। गैरकांग्रेसवाद की उनकी रणनीति विकृत रूप में सिर्फ उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्यप्रदेश जैसे कुछ बड़े राज्यों में सफल हुई थी, जहां उन्हें प्रान्तीय सरकारों के गठन के लिए कांग्रेस के दलबदलुओं का समर्थन लेना पड़ा था। यह प्रयोग अल्पजीवी साबित हुआ।

1977 में विपक्षियों को भारत पर राज करने का मौका मिला क्योंकि भारतीय मतदाता श्रीमती इन्दिरा गांधी और उनके बेटे के निरंकुश शासन के खिलाफ उठ खड़े हुए। लेकिन यह प्रयोग ज्यादा दिन नहीं चला क्योंकि जनता पार्टी का हिन्दू दक्षिणपंथी हिस्सा एक गुप या व्यक्ति को एक दूसरे के खिलाफ भड़काने की मैकियावेली दा0व-पेंच चला रहा था। समाजवादी और अन्य वैचारिक प्रतिबद्धतावाले गुप सत्ता संघर्ष के मोहरे बनने के प्रलोभन से बचने में बुरी तरह से मात खा गये। 1977 के चुनावी जनादेश तथा 1974 के जेपी आंदोलन और 75-77 के आपातकाल के दौरान उनके साहसिक अग्रणी भूमिका ने उन्हें भारत का भाग्य गढ़ने का अवसर दिया था। लेकिन वे चूक गये।

यहां इस ऐतिहासिक तथ्य को दोहराना प्रांसगिक होगा कि 77 के चुनावों में जनता की अपूर्व भागीदारी दिखी थी। सभी वर्गों के लोगों ने, खास कर उत्तर भारत के लोगों ने, जहां तानाशाही शासन बिल्कुल बेनकाब था, जनता पार्टी के उम्मीदवारों को अपने घर के उम्मीदवार की तरह अपनाया, अपने स्तर से चुनाव के लिए धन एकत्र किया और जागरूक नागरिक जनता पार्टी के स्वयंसेवक बन गये थे।

कई वस्तुनिष्ठ पर्यवेक्षक मानते हैं कि कांग्रेस भ्रष्टाचार की गिरफ्त में है। भाजपा का भ्रष्टाचार ज्यादा प्रगट नहीं है। लेकिन इस दक्षिणपंथी, जातिवादी और घृणा फैलानेवाली पार्टी के दिल्ली के तत्कालीन मुख्यमंत्री, मध्यप्रदेश के एक पूर्व मुख्यमंत्री और पार्टी के तत्कालीन राष्ट्रीय अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी के नाम हवाला घोटाले में थे। यहां तक कि सामान्य आदमी भी जानता है कि अब भाजपा चुनाव के लिए 'अशुद्ध' धन का जुगाड़ कर सकती है। इस मामले में वह कांग्रेस को भी पीछे छोड़ रही है। हालांकि इसके बावजूद वह दिल्ली की राजनीतिक सत्ता की कुर्सी पर कब्जा नहीं कर पा रही है। लोग यह नहीं भूले होंगे कि 96 के चुनाव के अवसर पर सम्पन्न भाजपा की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक के बाद प्रमोद महाजन ने 'शुद्ध धन' इकट्ठा न कर पाने के प्रति शायद 'स्वीकारोक्ति' या कि 'गर्वोक्ति' की थी। चुनाव से पहले ही उन्होंने खुले आम कहा कि उनकी पार्टी चुनाव अभियान के दौरान सात एयर क्राफ्ट का इस्तेमाल करेगी। कहीं से भी धन एकत्र करने के लिए तर्क दिया गया कि चुनावों में होने वाले अत्यधिक खर्च ने उन्हें धनवान लोगों से धन उगाहने को मजबूर कर दिया।

1977 के अनुभव बताते हैं कि यदि लोग आपको अपना सही उम्मीदवार मानते हैं, देश की बागडोर सौंपने के लिए आपको वोट देना चाहते हैं, तो आपको चुनाव जीतने के लिए धन की जरूरत नहीं होती।

भारतीय राजनीतिक परिदृश्य की साधारण जानकारी रखने वाला आदमी भी जानता है कि कौन-कौन से व्यावसायिक घराने भाजपा और विशेष रूप से प्रमोद महाजन के करीब हैं। इस तरह के निहित स्वार्थ के लोग ही यह प्रचार करते हैं कि हर कोई भ्रष्ट है या हो सकता है। वे यह स्थापित करना चाहते हैं कि भ्रष्टाचार न सिर्फ प्रभावी तथ्य है बल्कि एक प्रभावी सिद्धांत है। लेकिन यह जानते हुए भी लोग भ्रष्टाचार को सिद्धांत रूप में स्वीकार नहीं करते। इसलिए वे भ्रष्टाचार के खिलाफ खड़े भी होते हैं।

राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र और दिल्ली की भाजपा सरकारों को देखें कि ये किस कदर भ्रष्टाचार में लिप्त थीं। राजस्थान के मुख्यसचिव एमएल मेहता का नाम रखा गया 'मिनरल लिकर मेहता'। राजस्थान के



मुख्यमंत्री वहां में लोकायुक्त की नियुक्ति के खिलाफ थे। महाराष्ट्र में नियुक्ति की भी गई, तो बिल्कुल नख-दंत विहीन। इसका उल्लेख (भूतपूर्व आइएएस अधिकारी और 'लोक हित' के सदस्य) जेबी डिसूजा और बीडब्ल्यू प्राचन, ने 'ह्यूमनस्केप' के अप्रैल, 1996 के अंक में किया है।

रत्नाकर त्रिपाठी के इस विश्लेषण से हमारी पूरी सहमति है कि 'पिछले दशकों में जैसे-जैसे हमारी राजनीतिक प्रक्रियाएं और सामाजिक जीवन उत्तरोत्तर लोकतंत्रीकृत हुआ है, वैसे-वैसे भ्रष्टाचार का परिघटना के रूप में विस्तार हुआ है। लेकिन वास्तविकता यह है कि भ्रष्टाचार लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया के खिलाफ प्रतिशोधात्मक रणनीति है। लोकतंत्रीकरण के विस्तार के साथ भ्रष्टाचार चलता है, पलता-बढ़ता है और उसकी जीवंतता को बिगाड़ देता है।'

यह समझ इस बात की परख करने को जरूरी करार देती है कि समाज के सत्कारुढ़ संस्थान द्वारा किस तरह लोकतांत्रिक संकल्पों और इच्छाओं को निस्तेज किया जाता है। इस सिलसिले में दोनों शासक पार्टियों - कांग्रेस और भाजपा - की रणनीति में बहुत हद तक समानता है। दोनों पार्टियों ने भारतीय जनमानस को समझते हुए कि उसने अभी तक भ्रष्टाचार को सिद्धांत रूप में स्वीकार नहीं किया है, पहले तो भ्रष्टाचार विरोधी तेवर अपनाये। 1996 के अपने चुनावी घोषणापत्र में दोनों ही पार्टियों ने भ्रष्टाचार के खिलाफ होने की बात कही। भाजपा के तत्कालीन अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी तो शुचिता के प्रचार के लिए रथयात्रा निकालने को उतावले थे। लेकिन क्या भाजपा के मुख्यमंत्री अपनी पंसद के ही सुप्रीम कोर्ट के जजों को नियुक्त करने का साहस करेंगे, देशवासियों को यह बताने के लिए कि (1) देश के विभिन्न राज्यों में भाजपा के मंत्रियों और पूर्व मंत्रियों द्वारा अर्जित व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्रोत क्या हैं। (2) 1991 और 1996 के लोकसभा चुनावों के लिए इकट्ठा किये गये धन के स्रोत क्या थे। (3) उन चुनावों में भाजपा द्वारा किये गये खर्च और पार्टी के नेताओं पर किये गये रोजमर्रा खर्च की मोटामोटी राशि कितनी थी।

इस तरह की कोशिश के बाद ही उन्हें शुचिता की बात करने का नैतिक अधिकार होता। तथ्य यह है कि चुनावों के बाद जब भाजपा थोड़े समय के लिए सत्ता में आयी तो उसने भ्रष्टाचार हटाने के लिए कोई काम नहीं किया। उसने यदि कोई काम किया भी तो बहुराष्ट्रीय एनरान पावर प्रोजेक्ट को तुरत-फुरत और गोपनीयता के साथ पास करने का। वे हमारी राजनीति से भ्रष्टाचार खत्म करने के सांस्थिक इंतजाम के तहत आम सहमति का कोई फार्मूला ला सकते थे। लेकिन भाजपा ऐसा कैसे कर सकती है? क्योंकि अगर भ्रष्टाचार जीवन का प्रमुख तथ्य न रहे तो वे स्थापित सामाजिक वर्ग अपनी प्रबल शोषणकारी अवस्थिति से हाथ धो बैठेंगे, जो भाजपा के मजबूत आधार हैं। लोकतंत्रीकरण की प्रक्रियाओं के खिलाफ शासक वर्ग के हाथ के सबसे मजबूत हथियारों में से एक है भ्रष्टाचार।

वित्तीय भ्रष्टाचार के मामले में शासक वर्ग की दोनों पार्टियों ने अन्य किस्म के कौशल का इस्तेमाल किया। शासक वर्ग की दूसरी प्रमुख पार्टी कांग्रेस 1977 में जनता के लोकतांत्रिक संकल्प के खिलाफ किस तरह का जवाब दिया, देखें। जब संविधान की कुछ खामियों का फायदा उठाकर देश में संवैधानिक तानाशाही थोपने वाली श्रीमती इन्दिरा गांधी को जनता ने पराजित कर दिया तो उन्होंने भारतीयों की 'अस्मिता से जुड़ी तीन चिन्ताओं' को भड़काया। उनमें पहली और सबसे महत्वपूर्ण थी - नये राज्य 'इंडिया' में नागरिक की अस्मिता। वे यह दुष्प्रचार करने में सफल हुई कि जनता पार्टी शासन नहीं कर सकती।

जनता पार्टी के बहुलतावादी और खुले लोकतांत्रिक चरित्र को कमजोरी की निशानी के रूप में चित्रित किया गया। 1980 में इन्दिरा गांधी का मुख्य नारा था 'वोट उसी को दें, जो राज कर सके'। भारतीयों का एक बड़ा हिस्सा उस नारे के झांसे में आ गया क्योंकि उसको लगा कि सचमुच भारतीय राज्य का भविष्य खतरे में है। उसे विश्वास दिलाया गया कि जनता पार्टी जैसी बहुलतावादी पार्टी के हाथों में उसका भविष्य सुरक्षित नहीं है।

कई-कई जटिलताओं में फंसी जनता पार्टी इस प्रचार का कारगर मुकाबला नहीं कर पायी। उनमें यह तथ्य भी शामिल है कि तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री खुद एक ऐसे राजनीतिक संगठन से आते थे, जिसमें सत्तावाद का विस्तृत ढांचा और सम्बद्ध विचारधारा कायम है और जो व्यवहार में लायी जाती थी। भारतीय पाठक समझ सकते हैं कि मैं आरएसएस की बात कर रहा हूँ, जो भाजपा का अभिभावक या कहें कि नियंत्रक संगठन है (1977 में जनता पार्टी में विलय से पहले भाजपा को भारतीय जनसंघ के नाम से जाना जाता था।)

आपातकाल के दौरान जब मैं जेल में था (4 जुलाई, 1975 से 22 फरवरी, 1977 तक), मुझे ऐसे कई आरएसएस के कार्यकर्ता मिले, जो इस आधार पर आपातकाल लागू करने को लगभग उचित ठहरा रहे थे कि जेपी ने उस समय सेना के जवानों से शासन के असंवैधानिक और जनविरोधी आदेशों का पालन न करने का आह्वान किया था। कांग्रेस और भाजपा दोनों अलोकतांत्रिक कार्यप्रणाली के विभिन्न रूपों पर विश्वास करती हैं। बहुलतावादी और खुले लक्ष्यों की कार्यसंस्कृति का उनका कोई भी उदाहरण आम भारतीय नागरिक की चिन्ताओं को बढ़ाने में ही सहायक होता है। क्योंकि यह सब भारतीय राज्य के भविष्य और सुरक्षा के नाम पर होता है। संयुक्त मोर्चा सरकार के कई प्रमुख नेताओं को भाजपा बार-बार आईएसआई या पाकिस्तान का एजेंट कहती थी। खासकर यदि वे अल्पसंख्यक या पिछड़े वर्ग से सम्बंधित हैं तो। वे भूल जाते हैं कि आईएसआई और कश्मीरी आतंकवादियों के लिए काम कर चुके नेटवर्क से धन लेने के आरोपी समाजवादी पार्टी के अध्यक्ष मुलायम सिंह यादव नहीं बल्कि भाजपा के तत्कालीन अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी हैं। भाजपा नेतृत्व यह भी भूल जाती है कि उनका एक सांसद (अब भूतपूर्व) आतंकवादियों को शरण देने के मामले में अब तक जेल में है। लेकिन भाजपा जब तक इस चिन्ता को भड़काना जारी नहीं रखेगी और भारतीयों की मानसिकता को कुन्द बनाने की कोशिश नहीं करेगी, तब तक वह उनकी लोकतांत्रिक संकल्पों की गति को नहीं रोक सकती।

1980 में पुनः सत्ता प्राप्त करने के पश्चात इन्दिरा गांधी ने पंजाब के लोकतांत्रिक और देशभक्त सिखों के खिलाफ भिंडरावाला जैसे अतिवादी सरगना को खड़ा किया। अकाली दल जैसी महत्वपूर्ण पार्टी, जिसने इन्दिरा गांधी के आपातकालीन शासन के खिलाफ पंजाब के सिखों का प्रतिनिधित्व करते हुए शानदार संघर्ष किया था, उसे कांग्रेस और भाजपा दोनों ही दलों ने राष्ट्र विरोधी करार देने का प्रयास किया। राज्यों को अधिक शक्ति देने की उनकी लोकतांत्रिक मांग को राष्ट्र विरोधी ठहराया गया। 1977-78 के दौरान भी श्रीमती गांधी ने विभिन्न समुदायों की जातिगत चिन्ता भड़काई। 77 के चुनावों में पहली बार कृषक जातियों की उपस्थिति उनके अपने दम पर दिल्ली की सत्ता में दर्ज हुई थी।

इंदिरा गांधी जनता पार्टी की सरकार को दलित विरोधी करार देने में काफी हद तक सफल हुईं। इसके लिए सस्ते हथकंडे अपनाते हुए वे दलित उत्पीड़न की एक घटना के खिलाफ विरोध जताने बिहार में हाथी पर चढ़कर गयीं। उनकी पार्टी के लोगों ने गांव की साझी जमीन में से छोटे-छोटे प्लॉट दलितों में बांटने के मुद्दे पर जाट और दलितों को आपस में लड़ने के लिए उकसाया। इस मुद्दे पर लम्बा आंदोलन चला। इस आंदोलन का मुख्यालय दिल्ली का कांझावाला गांव था।

कहने का आशय यह है कि जनता के लोकतांत्रिक संकल्पों को कमजोर करने के लिए भ्रष्टाचार को संस्थाबद्ध करना शासक वर्ग की एक मात्र जवाबी रणनीति नहीं था। कांग्रेस और भाजपा दोनों ने अस्मिता की चिन्ताओं को हवा दी। एक भारतीय होने की पहचान और दूसरी जातिगत या समुदाय की पहचान की चिन्ता। ऐसा करना इंदिरा गांधी के लिए जरूरी था क्योंकि कांग्रेसियों के खिलाफ निर्णय आने के बाद वे समझ चुकी थीं कि सिर्फ भ्रष्टाचार को पुनर्परिभाषित करना, जैसा कि उन्होंने कानून में फेर-बदल कर किया, उनके भ्रष्ट शासन को जारी रखने के लिए पर्याप्त नहीं था। संयोगवश एक केस खुद उनसे जुड़ा था, जिसमें इलाहाबाद उच्च न्यायालय के जस्टिस सिन्हा ने 12 जून, 1975 को उनका चुनाव निरस्त कर दिया था। 25 जून, 1975 की रात उन्होंने

आन्तरिक और बाहरी विरोधियों से निपटने के लिए आपातकाल की घोषणा कर दी। लेकिन जनता ने उन्हें 77 में सबक सिखा दिया।

1977 के बाद इन्दिरा गांधी समझदार हो गयी थीं और वे सिर्फ भ्रष्टाचार का नहीं, बल्कि उन्होंने अस्मिता की अंधी राजनीति का भी बतौर जवाबी रणनीति इस्तेमाल किया। भाजपा से भी पहले इन्दिरा गांधी ने जम्मू-कश्मीर के चुनावों में खुलेआम हिन्दू भावनाओं को भड़काया। भाजपा यही काम आरएसएस के विशाल नेटवर्क के जरिये अल्पसंख्यकों के खिलाफ कानाफूसी अभियान चलाकर गोपनीय तरीके से करती थी।

1984 में सत्ता में आने के बाद राजीव गांधी ने भी लोकतंत्रीकरण के खिलाफ भ्रष्टाचार और अस्मिता की भावनाओं को भड़काने की पुरानी नीतियां दोहराईं। उन्हीं के प्रधानमंत्रित्व काल में अयोध्या में मस्जिद का विवादास्पद भाग जनता के लिए खोला गया। इसे तत्कालीन आन्तरिक सुरक्षा मंत्री अरुण नेहरू ने हिन्दुओं की दी गयी छूट के रूप में प्रचारित किया। वह बाद में विश्व हिन्दू परिषद के नजदीक चले गये। भाजपा / आरएसएस. और मुस्लिम कट्टरपंथियों ने दोनों समुदायों की अस्मितागत भावनाएं भड़काकर राजीव गांधी को उपकृत किया। लेकिन इस सब के बावजूद राजीव गांधी और सत्ताधारियों ने अपने आप को सुरक्षित नहीं महसूस किया।

तब राजीव गांधी ने इक्कीसवीं सदी के उपभोक्तावाद का सपना बेचा। इसने हमारे समाज में हर वर्ग की उपभोक्तावादी आकांक्षाओं को हवा दी। उपभोक्तावाद की इस पागल दौड़ की गिरफ्त में सबसे अधिक आया मध्य वर्ग। आधुनिक/पश्चिमी और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के उत्पादों का उपभोक्ता बनने में सफल होना सर्वोच्च सामाजिक लक्ष्य बन गया। भारत ने बिना सोचे-समझे वैश्विक वित्तीय संस्थाओं से उधार लेना शुरू कर दिया।

इस सब से हमारी आर्थिक सम्प्रभुता का क्षरण हुआ और अन्ततः 1991 में नरसिंह राव ने 90 से 95 प्रतिशत देशवासियों के बाजार को मात देने के लिए राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के रास्ते की तमाम बाधाएं खत्म कर दीं। इससे शासक वर्ग को दोहरा लाभ हुआ। एक तो उसे

अस्मिता का लाभ मिला और दूसरा, इसमें आसानी से रुपया कमाने को वैधता प्रदान करने के प्रयासों से और अधिक भ्रष्टाचार के लिए रास्ता साफ हुआ। इसीलिए नरसिंह राव के काल को प्रो. कमलनयन काबरा ने 'घोटालों का युग' कहा है।

इस बीच अस्मिता की बढ़ती चिन्ता को भाजपा ने हिन्दू अस्मिता की चिन्ता में तब्दील कर दिया। हालांकि इस मामले में भाजपा की सफलता सीमित थी लेकिन सुनिश्चित थी क्योंकि भाजपा ने इसका चुनावी राजनीति में अपने फायदे के लिए बखूबी इस्तेमाल किया। गले-गले तक भ्रष्टाचार में डूबने के बाद भी भ्रष्टाचार के खिलाफ खड़े होने का दिखावा किया। अपनी अस्मिता के लिए चिंतित हिन्दू के लिए भ्रष्टाचार गौण मुद्दा हो गया। इस तरह भ्रष्टाचार को बरकरार रखने के लिए साम्प्रदायिक भावनाओं को भड़काना भाजपा का कारगर साधन बन गया।

इस परिघटना का एक परिणाम यह हुआ कि हममें से जो लोग धर्म निरपेक्षता, समता और सामाजिक न्याय के लिए प्रतिबद्ध थे, उन्होंने भी साम्प्रदायिकता के खतरे को भांपकर उन घटकों की आलोचना से परहेज किया, जो मोटे तौर पर 'तीसरी शक्ति' कहे जाते थे। हम लोग भी एक भारतीय लोकतंत्री, बहुलतावादी हिन्दू या देशभक्त मुसलमान के रूप में अपनी पहचान सुरक्षित रखने के लिए चिन्तित हो गये। लोकतांत्रिक शासन के प्रोत्साहन के लिए प्रभावी और रचनात्मक आलोचना के स्वर तो भाकपा-माले के विभिन्न समूहों, स्वतंत्र दलित और मुस्लिम युवा समूहों, जागरूक बुद्धिजीवियों और जन आंदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय (एनएपीएम) की ओर से मुखर हुए। वैकल्पिक आंदोलनों का जल्द से जल्द समन्वय जरूरी है। दुर्भाग्यवश, बहुसंख्यक जनता की तरफ से देश में राज करने का भरोसा प्रदर्शित करने के लिए इस तरह के समन्वय को अभी लम्बा रास्ता तय करना है।

भारत में शासक वर्ग और उनके दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक दल भ्रष्टाचार और साम्प्रदायिकता में इस कदर उलझे हुए हैं कि यदि हम इन दोनों मुद्दों के खिलाफ एक साथ निशाना नहीं साधेंगे, तो हमारे

लिए कोई राजनीतिक गुंजाइश नहीं रहेगी। संयुक्त मोर्चा सरकार को समर्थन जारी रखने के मामले में कांग्रेस की अनिश्चितता का स्पष्ट कारण यह था कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कांग्रेस दिन प्रतिदिन अपनी नैतिकता खोती आयी है। और, वह लगातार वर्तमान भाजपा जैसी होती गयी है, सत्ता का लालच जिसके सर पर चढ़कर बोल रहा है।

साम्प्रदायिकता के खिलाफ लड़ना और जवाबदेह संरचनाओं का निर्माण करना एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक्टीविस्ट प्रशासक श्री पीएस अप्पू ने राजनीतिक दलों में सुधार की बात कही है, जिसमें दलों में आन्तरिक लोकतंत्र का अभ्यास शामिल है। यदि हम जवाबदेही की टिकाऊ संरचनाओं की स्थापना करना चाहते हैं, तो यह एक बहुत महत्वपूर्ण मुद्दा है। लेकिन हमारे राजनीतिक दलों में सुधार लाने के लिए हमें अपने मध्य वर्ग की राजनीति विरोधी प्रवृत्तियों और संगठन निर्माण के नियमित राजनीतिक कामों के लिए लोकोपकार की ठोस परम्परा के अभाव पर विचार करना होगा। राजनीतिक गतिविधि के लिए कोष जमा करने के अभियान के जरिये इस समस्या का समाधान निकालना होगा। साथ ही हमें दलों की सदस्यता और उनके द्वारा प्राप्त वोटों के प्रतिशत पर आधारित कोई फार्मूला ईजाद कर उनके लिए सरकारी अनुदान की व्यवस्था करनी होगी।

हमें जीवन के प्रभावी तथ्य के रूप में मौजूद भ्रष्टाचार से छुटकारा पाने की चुनौती स्वीकारनी होगी, अस्मिता की चिन्ताओं, साम्प्रदायिकता और भ्रष्टाचार के जोड़ को लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को रोकने वाले प्रबल घेरे के रूप में पहचानना होगा। हमारे जीवन में भ्रष्टाचार के 'प्रभावी तथ्य' से 'प्रभावी सिद्धांत' में तब्दील होने के पहले लड़ाई जीतना नितांत जरूरी है।

## विमर्श

**डीएल शेट :** मैं यहां तीन बातें रखना चाहता हूं। हम कहते हैं कि भ्रष्टाचार उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम, सब जगह है - यह भ्रष्टाचार के वैश्वीकरण का तर्क है। यह चारों ओर फैला हुआ है - यह एक तरह की सफाई है। यह इतना सर्वव्यापी है कि हम इसमें कुछ गलत नहीं पाते। यह अनुभव सिद्ध वैश्विक परिघटना है, इसलिए ऐसा कहना, कम से कम हमारे यहां बहुत सुविधाजनक हो गया है। भ्रष्टाचार का प्रचलन वैश्विक या सामान्य हो सकता है लेकिन उसका सामना करने के मामले में ऐसा नहीं है। इस मामले में देश, संस्कृति आदि के स्तर पर अपरिमित विविधता है। इस पर भी विचार करना होगा।

सरकार चाहे तो दंगों को खत्म कर सकती है, इसी तरह भ्रष्टाचार भी खत्म किया जा सकता है क्योंकि यह शासन से चलता है। यह विधि-व्यवस्था से चलता है। इसे और भी कई चीजों का इस्तेमाल करना होता है। दुनिया के अन्य हिस्सों की तुलना में हमारे यहां भ्रष्टाचार और भ्रष्ट आचरण के बावजूद बच निकलना आसान है। जो सवाल मैं उठा रहा हूं वह शुद्धतः आचरण सम्बंधी है।

दूसरा, भ्रष्टाचार को बाह्याचार मानने से सम्बंधित है। यह एक विलक्षण दक्षिण एशियाई मानसिकता है कि वह दूसरों पर बुराई थोपती है। जब साम्प्रदायिक दंगे होते हैं तो कहा जाता है कि बाहरी लोग आये और उन्होंने ऐसा कर दिया। अक्सर यह भी कहा जाता है कि यहां कुछ गड़बड़ नहीं था, अमुक-अमुक बाहरी कारकों के चलते ऐसा हुआ। यही समस्या है। हम इसे आत्मसम्मान और व्यक्तिगत गरिमा के मुद्दे से नहीं जोड़ते। इस स्थिति में भ्रष्टाचार के साथ जीना आसान हो जाता है। मैं नहीं जानता कि क्यों यहां अपने तई जिम्मेदार होना गम्भीर मुद्दा नहीं है। भ्रष्टाचार को यहां कोई भी अपनी या अपने तई जिम्मेदारी से जोड़ कर परिभाषित नहीं करता। इसलिए भ्रष्ट आचरण को तर्कसंगत ठहराना बहुत आसान हो गया है।

क्या इसका इतिहास से कोई लेना-देना है? क्या इसका हमारे अपने संस्कृतिक संदर्भ से सम्बंध है? रुझान से? यह व्यवसायिकता से

भी जुड़ा है। मैं तो सोचता हूँ कि यदि व्यवसायिकता में सच्चाई का पुट होगा, तो भ्रष्टाचार भी कम होगा। अक्सर इस सूत्र की अनदेखी की जाती है।

अन्तिम बात भ्रष्टाचार और लोकतंत्र से सम्बन्धित है। यदि भ्रष्टाचार व्यावहारिक रूप से लाभप्रद प्रणाली है, तो मैं सोचता हूँ कि इसमें कुछ गलत नहीं है। आप इसे धर्मनिरपेक्ष सीमा में रख सकते हैं। लेकिन इसके बारे में यूँ कहा जाता है जैसे कि यह व्यवहारतः वैयक्तिक स्तर पर शोषणकारी है लेकिन सामूहिक स्तर पर सबके लिए फायदेमंद होता है।

जाहिर है, इसमें खोनेवाले लोग भी होते हैं। और, वे खोनेवाले हैं - गरीब। भ्रष्ट आचरण मूल रूप में आभिजात्य आचरण है। बेशक आप कुछ गरीब लोगों को भ्रष्ट करार दे सकते हैं लेकिन हमारे समाज में वैधता से लैस ढांचा तो अभिजात्यों द्वारा नियंत्रित होता है। ऐसे लोगों का एक पूरा वर्ग है, जो व्यक्तिगत रूप से भ्रष्ट आचरण को सिर्फ कानूनी नहीं बल्कि नैतिक और सांस्कृतिक रूप से भी वैधता प्रदान करने के मामले में समझौता कर चुका है क्योंकि समाज में जिन लोगों को भ्रष्टाचार की कीमत चुकानी पड़ती है, वे ऐसे लोग हैं जिन तक, हर स्तर पर भ्रष्टाचार होने के कारण, कोई लाभ नहीं पहुंचता। निर्धनतम भी भ्रष्ट आचरण अपनाता है लेकिन बनावट में यह काफी अलग है। हमें इस बारे में विचार करना चाहिए कि किस तरह भ्रष्टाचार लोकतंत्र के लिए प्रत्यक्ष चुनौती है, खासकर इसलिए कि यह राजनीति और राजनीतिज्ञों के प्रति कटुता पैदा कर चुका है।

**रौशन धुन्जीबाँय :** दक्षिण एशिया के कई देशों में भ्रष्टाचार उभार पर है। हम अपनी राष्ट्रीयता, राष्ट्र गान, राष्ट्रीय ध्वज या राष्ट्रीय पक्षी पर तो बहुत गर्व करते हैं लेकिन इसके सापेक्ष हम जिस समाज में रहते हैं, उसके बारे में कुछ सोचते नहीं। हम इसका मूल्य चुका रहे हैं।

हमारी संस्थाएं कमजोर हैं। कई बार बहुत सारे लोग सरकारी एजेंसियों द्वारा ब्लैकमेल किये जाते हैं। अपनी नौकरी के तहत किसी काम के लिए यदि कोई आता है तो वह तब तक काम नहीं करता, जब

तक उसको कुछ अतिरिक्त आय न हो। मीटर रीडिंग के लिए आने वाला कर्मचारी इसका एक उदाहरण है। यदि आप उसको पैसा नहीं देते और विरोध प्रकट करते हैं, तो आपको काम होने का इन्तजार करना पड़ेगा।

दूसरी बात दक्षिण एशिया में हमने यह देखी है कि पारिवारिक मामलों में इस तरह के व्यवहार पर ध्यान नहीं दिया जाता। हमारे माता-पिता के काम करने के जो तरीके हैं, जैसे अपने पुत्र या पुत्री का किसी कॉलेज में प्रवेश कराना या कोई काम पहले कराना या कुछ नियमों को न मानना आदि इसके उदाहरण हैं। इन सब को यहां भ्रष्ट व्यवहार नहीं माना जाता। तब भ्रष्टाचार भद्र आदमी का भ्रष्टाचार बन जाता है। जर्मनी में एक समय में शराब पीकर गाड़ी चलाने पर जेल जाने को मजाक के तौर पर लिया जाता था। लोग जेल गये और लौटकर जेल में लिये गये अपने मजे के बारे में बात करते थे। इससे शराब पीकर गाड़ी चलाने की प्रवृत्ति पर कोई अंकुश नहीं लग पाया। तब सरकार ने इस कानून को रद्द कर दिया और अधिक ठोस कदम उठाते हुए बड़ा जुर्माना थोप दिया। और, चौथी बार ऐसा होने पर आजीवन लाइसेंस जब्त कर लेने का नियम बना दिया। इसका लोगों को जेल भेजने की तुलना में ज्यादा अच्छा प्रभाव पड़ा।

## लोकतंत्र सम्बर्द्धन की चुनौती

विचार

तृणमूल लोकतंत्र के लिए स्थानीय सहभागी आयोजना  
पूर्णकांत अधिकारी

नेपाल में लोकतंत्र : वेस्टमिंस्टर से संघीय मॉडल  
तक

महेन्द्र लावती

नेपाली समाज का लोकतंत्रीकरण : मुद्दे और चुनौतियां  
गोपाल शिवाकोटी 'चिंतन'

विमर्श

## लोकतंत्र के लिए स्थानीय सहभागी आयोजन

### पूर्णकांत अधिकारी

अलग-अलग जगह पर खड़े लोग एक ही चीज को अलग-अलग देखते हैं। इसमें कुछ गलत नहीं है। लेकिन समस्या तब पैदा होती है, जब हम भिन्न संदर्शों को देखने में असमर्थ होते हैं। हमारा मस्तिष्क इस तरह काम करता है। यदि हमारे मस्तिष्क में कोई बात आती है, तो वह इस तरह योजनाबद्ध होती है कि हमें अन्य चीजों को देखने की अनुमति नहीं मिलती। हम इसके गुलाम बन जाते हैं। यदि आपने जवान औरत को देखा है, तो आप बुढ़िया को नहीं देख सकते। और, अगर आप ने बुढ़िया को देखा है, तो आप अन्य चीजों को नहीं देख सकते। जब तक कि आप यह सोचना बन्द नहीं कर देते कि आपने क्या देखा, यह सुनना शुरू नहीं करते कि दूसरों ने क्या देखा।

हमारे समाज में इसी वजह से द्वन्द्व पनपता है - परिवार में, दोस्तों के बीच, समुदाय में राज्य में, राज्यों के बीच। तमाम द्वंद्वों का उद्गम यही है कि लोगों का अपना-अपना नजरिया होता है और वह एक दूसरे से भिन्न होता है। और, ये नजरिये उन अनुभवों से बनते हैं, जिनसे लोग गुजरे होते हैं - ये जीवन्त अनुभव हो सकते हैं, किताबों पर आधारित हो सकते हैं या किसी अन्य को सुनने से हो सकते हैं। ये अनुभव हमें कुछ निश्चित विचार देते हैं और हम उनके इस कदर अधीनस्थ हो जाते हैं कि अन्य चीजों को अपने अन्दर नहीं आने देते। हम दूसरों को नहीं देखते।

ऐसे में हम लोकतंत्र पर विचार करते हैं, तो यह अत्यंत जटिल परिघटना बन जाती है। धर्म कैसे काम करता है? भ्रष्टाचार कैसे काम कर रहा है? वैश्वीकरण कैसे काम करता है? जब हम लोकतंत्र को बरतने लगते हैं तो इस तरह की सभी चीजें बहुत सारी जटिलताएं पैदा करती हैं। तब इस तरह के सवाल उठते हैं : माना कि लोकतंत्र अच्छा होता है, हम इस पर विश्वास करते हैं और उसको बरतना चाहते हैं लेकिन कैसे बरतें? यह एक चुनौती है। हम हमेशा कह सकते हैं कि यह बुरा है, वह बुरा है लेकिन हम कैसे इनका हल निकाल सकते हैं ताकि हम मतभेदों को पाटें, साथ जीयें और साथ काम करें। यही सबसे बड़ी चुनौती है।

यह सामान्य घटना-क्रिया है, जिसका हम सब दैनंदिन जीवन में सामना करते हैं। इससे बहुत सारी परेशानियां पैदा होती हैं। हमें उस स्थिति का सामना करना पड़ता है, जिसे हम नहीं चाहते। हमारी मूल प्रवृत्ति इसको सकारात्मक दिशा में मोड़ने की होती है, नापसन्द क्षण को वांछनीय बनाने की होती है। लेकिन वांछनीय क्या है? परिवर्तन की इस प्रक्रिया में संवाद की प्रक्रिया की जरूरत होती है, जो खुद भी द्वन्द्व पैदा करती है।

सवाल यह भी है : कोई स्थिति कैसे वांछनीय होती है? क्या हमारे पास उस वांछनीय स्थिति के लिए साझा (कॉमन) समझ है? यदि हमारे पास वांछनीय स्थिति के प्रति साझा समझ होती है, तो आवंछनीय स्थिति के लिए भी साझा समझ होती है। तब बदलाव की पूरी प्रक्रिया पर चर्चा की जा सकती है। तभी हम एक समझ पर भी पहुंच सकते हैं। और, इस साझा समझ को सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है।

लोकतांत्रिक संस्थाएं इस परिवर्तन के साधन हैं। लोकतंत्र उसी के लिए है। तब हम इन संस्थाओं को कैसे सक्रिय करें? यह कैसे संभव हो सकता है? जब तक सामाजिक परिवर्तन की पूरी प्रक्रिया के केन्द्र में 'लोग' नहीं होते, तब तक मौजूदा नकारात्मक चीजों से हम पार नहीं पा सकते - चाहे आप उसे भ्रष्टाचार कहें या कुछ और। लेकिन हम उसे कैसे करें?

मैं अपने एक अनुभव की चर्चा करना चाहता हूँ, जो तीन साल पहले मेरे गृह जिला में हुआ था। लोकतंत्र की पुनर्स्थापना के बाद वहाँ एक ही पद के लिए कई दल आपस में भिड़े हुए थे। लेकिन पद पाने के बाद वे नहीं जान पाये कि वे आखिर करें क्या? नेपाल में हमारे लिए यह सबसे बड़ी समस्या रही है। पिछले 12 सालों में नेपाल इस समस्या का सामना करता आ रहा है। आप मंत्री या जिला या गांव के अध्यक्ष बन जाते हैं लेकिन आप वहाँ पहुंचने के बाद क्या करेंगे?

तब हमने विभिन्न राजनीतिक दलों के अपने दोस्तों के सामने प्रस्ताव रखा - हम चुनाव के दौरान लड़ सकते हैं। वह लड़ाई जारी रहे क्योंकि हम अलग-अलग विचारधाराओं में विश्वास करते हैं और हमारी सोच अलग-अलग है। लेकिन हम अपने जिला या गांव में जो परिवर्तन चाहते हैं, वह क्या है? हम एकजुट नहीं होंगे, तो यह परिवर्तन सम्भव नहीं हो सकता। तो क्या हम एकजुट हो सकते हैं? यही प्रस्ताव हमने सबके सामने रखा। तमाम राजनीतिक दल, जिला स्तर के सभी नेता एकजुट होने को सहमत हुए। तो हमें ग्रामीण स्तर से लेकर जिला स्तर तक, सभी दलों, खूंटों से बंधे लोगों को शामिल करने, उनकी सही भूमिका की पहचान करने, इस आलोक में कि सामाजिक परिवर्तन में उनकी क्या भूमिका रही, के लिए सिलसिलेवार सहभागी प्रयासों की जरूरत हुई। लोगों का एकजुट होना, कार्यक्रम को सूत्रबद्ध करना संभव हुआ। आप शायद विश्वास नहीं करें कि शत-प्रतिशत भागीदारी सम्भव हुई। लोगों ने इस प्रक्रिया को अपनाया। हमने इसे ही 'लामजुंग मॉडल' नाम दिया (उस जिले के नाम पर, जहाँ यह प्रयोग हुआ)।

हमने समझा कि जनता ही विकास का अनन्य केन्द्र है। इस बोध के लिए अनिवार्य है कि लोगों की स्वतःस्फूर्त भागीदारी हो। इसी वजह से विकास लोगों की अपनी राजनीतिक कार्रवाई है। यह शब्दाडंबर नहीं है। आपको इसे बरतना होगा। आप कोई सड़क बनाना चाहते हैं या विद्युतीकरण या बायो-गैस प्लांट शुरू करना चाहते हैं या प्रशिक्षण कार्यक्रम या बचत और साख कार्यक्रम चलाना चाहते हैं, तो यह ग्रासरूट स्तर पर संभव है। समुदाय पर आधारित संगठनों को विकास की प्रक्रिया के लिए जिम्मेदार होना चाहिए।

ये सारी चीजें सम्भव हैं जब हम ईमानदार और शक्ति-सम्पन्न हों। ईमानदार आचरण लोगों में चेतना जगाने की प्रक्रिया है, जो उनमें परिवर्तन के लिए काम करने की ललक जगाती है। परिवर्तन के लिए काम करने की सिर्फ ललक भी काफी नहीं है। लोगों में पर्याप्त दक्षता का विकास करना होगा और संसाधनों का आधार प्रदान करना होगा। यही सशक्तीकरण है। इस तरह की दक्षता और संसाधनों का इंतजाम उन संस्थाओं द्वारा किया जा सकता है, जो विकास के लिए काम कर रही हैं। वे सरकारी संस्थाएं, गैरसरकारी संगठन हो सकते हैं, निजी एजेंसियां हो सकती हैं। ईमानदार आचरण की इस प्रक्रिया में समुदाय आधारित संगठन हो सकते हैं - महिला समूह, युवा क्लब, उपभोक्ता समूह, राजनीतिक पार्टियां और ट्रेड यूनियन सभी हो सकते हैं। सबके लिए सकारात्मक भूमिका है।

और, इन सकारात्मक भूमिकाओं को एकजुट करना और एक-दूसरे के द्वारा समझा जाना जरूरी है। सिर्फ तभी सशक्तीकरण की यह प्रक्रिया सम्भव हो सकती है। हमारे पास निर्वाचित स्थानीय निकाय भी हैं - गांव विकास समितियां, नगर समितियां, जिला विकास समितियां हैं, जिनका काम सामाजिक परिवर्तन के लिए जन आंदोलनों को सुसाध्य बनाना और समन्वित करना है। राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को आप और हम चाहें या न चाहें, वे हैं और उनकी जरूरत है। उनका काम है लोगों की मदद करना, सीधे नहीं, मध्यस्थ संस्थाओं के जरिये, जो जन संगठन हैं। मैं सोचता हूँ कि यह एक रास्ता है, जिससे हम तृणमूल स्तर पर लोकतंत्र को सुदृढ़ कर सकते हैं।



## नेपाल में लोकतंत्र : वेस्टमिंस्टर से संघीय मॉडल तक

महेंद्र लावती

मैं नेपाल में लोकतांत्रिक सुदृढीकरण के अभाव के बारे में बात करना चाहता हूँ। मैं इसके कुछ कारणों को पहचानने की कोशिश करूंगा। मुख्य रूप से मैं इस बारे में चर्चा करूंगा कि लोकतांत्रिक नेपाल में आज भी किस तरह से बहिष्करण जारी है। मैं कुछ आंकड़ों की भाषा में लोकतंत्र के बाद की संसद में सहभागिता के बारे में बताने का प्रयास करूंगा और इसकी तुलना लोकतंत्र के पूर्व के निरंकुशता के दिनों के आंकड़ों से करूंगा। यह दिखाने की कोशिश करूंगा कि भले के लिए या बुरे के लिए कैसे जाति और जातीय प्रतिनिधित्व कितना बदल गया है। मैं तीन समूहों की बात कर रहा हूँ - दलित, जनजाति और मधेसी।

दलित वे हैं, जिन्हें हम अछूत कहा करते थे। जनजातियों के लोग वे हैं, जिन्हें भारत में आदिवासी कहा जाता है। वे अपनी जातीयता को राष्ट्रीयता कहते हैं। मधेसी मैदानी इलाकों के समुदाय हैं। मधेसियों में दलित, उच्च जाति के हिन्दू, मुस्लिम और जनजातियां हैं। वहां लैंगिक बहिष्करण भी है लेकिन मैंने उसे अपने आलेख में शामिल नहीं किया है।

मूल रूप में दो तरह के भेदभाव हैं : एक, सांस्कृतिक भेदभाव और दूसरा, संसाधनों तक पहुंच में भेदभाव। मैं राजनीतिक बहिष्करण की बात करूंगा। अलगाव या लगाव को शासकीय नीति की शब्दावली में समझा जा सकता है। नेपाल में पिछले दशक में इन तीन समूहों को

ध्यान में रखकर ठोस शासकीय नीतियां नहीं बनायी गयीं। सार्थक शासकीय या राज्य-नीतियां बिल्कुल नहीं हैं।

मैं नेपाल में 1959 से अब तक - पहला लोकतांत्रिक चुनाव, पार्टीविहीन पंचायती राज का दौर और 1990 में लोकतंत्र की पुनर्स्थापना के बाद हुए तीन चुनाव - के उपर्युक्त समूहों के प्रतिनिधित्व की चर्चा करूंगा। रुझानों के मदेनजर इन समूहों का नौकरशाही में प्रतिनिधित्व भी वैसा ही है।

नेपाल में बहुत ही दिलचस्प घटना-क्रिया जारी है। मैंने हाशिये पर पड़े समूहों का उल्लेख किया, लेकिन प्रबल समूहों - पहाड़ों के बहुन-क्षेत्री समूहों का उल्लेख नहीं किया। आबादी के हिसाब से वे लगभग 31 प्रतिशत हैं। संख्या के हिसाब से तो वे अल्पसंख्यक हैं लेकिन वे प्रभु समूह हैं। अगर आप इसमें लैंगिक आयाम जोड़ें, तो वे प्रभु समूह और छोटे होंगे, क्योंकि उनमें भी महिलाएं बहिष्कृत हैं। इसलिए उन प्रभु समूहों की कुल आबादी लगभग 15 प्रतिशत ही है।

1959 से लेकर 1999 तक की तस्वीर में इन समूहों के प्रतिनिधित्व के प्रवाह को पहचाना जा सकता है। 1990 के बाद प्रभु समूह ने संसद में अपना प्रतिनिधित्व बढ़ा लिया। लोकतंत्र के आगमन के पूर्व भी इसका प्रतिनिधित्व अच्छा था। पिछले तीन चुनावों में भी इसके प्रतिनिधित्व का अनुपात और बेहतर रहा।

जनजातियों का प्रतिनिधित्व पंचायती राज के दिनों की तुलना में घटा है। मधेसियों का प्रतिनिधित्व पंचायती राज की अपेक्षा कुछ बढ़ा है लेकिन उनकी संख्या 1959 के स्तर तक नहीं पहुंची। हालांकि मैदानी इलाके में उनकी जनसंख्या बढ़ने के कारण निर्वाचन क्षेत्रों की संख्या बढ़ी है।

इस प्रवृत्ति के परिणाम और कारण क्या हैं? कारणों में ऐतिहासिक कारक भी हैं, जो महत्वपूर्ण हैं। मैं 1990 से नेपाल में अपनाये गये शासन के ढांचे की ओर ध्यान आकृष्ट करूंगा।

प्रभु समूह के बीच का ट्रेड - रुझान - भी बेहद दिलचस्प है। बहुन समुदाय लोकतंत्र के आगमन के बाद और अच्छी स्थिति में पहुंच

गया है। उसके प्रतिनिधित्व में लगभग 20 प्रतिशत की तेज उछाल आयी है। क्षेत्री लोग, राजा के अधीनस्थ होकर पंचायती राज में बहुत अच्छी स्थिति में थे लेकिन अब बहुत बुरी स्थिति में हैं। कारण? इस बाबत दिलचस्प तथ्य यह है कि पंचायत काल में क्षेत्री राजा शक्तिशाली था, इसलिए क्षेत्री लोग अच्छी स्थिति में थे। लोकतंत्र के आगमन के बाद बहुत अच्छी स्थिति में आ गये। यह संयोग हो सकता है कि सभी प्रमुख राजनीतिक दलों के शीर्ष नेता बहुत हैं।

नेपाल में एक आम धारणा या जनता का अभिमत यह है कि बहुत लोग अच्छा कर रहे हैं, क्योंकि वे शिक्षित हैं। क्या यह विश्वसनीय कारण है? यह कसौटी पर खरा नहीं उतरता। नेवार प्रजाति भी उतनी ही शिक्षित है और धनवान भी लेकिन वह अच्छी स्थिति में नहीं है। उसका प्रतिनिधित्व कुछ घटा है। यानी शिक्षा एक कारक है लेकिन एकमात्र कारक नहीं है।

मेरा तर्क यह है कि आज भी बहिष्करण जारी है क्योंकि नेपाल ने, विविधता और बहुलता से परिपूर्ण समाज होने के बावजूद, उस लोकतांत्रिक ढांचे को अपनाया है, जो एकरूप समाजों में ही सफल हुआ है। तो इसका मतलब क्या है? वेस्टमिंस्टर मॉडल या बहुमत वाले मॉडल में लोकतांत्रिक संरचनाएं आम तौर पर वर्ग भेद को ध्यान में रखती हैं। लेकिन यदि हम इसी मॉडल का बहुलतावादी समाज के लिए आयात करते हैं, जिसमें बहुत सारे सांस्कृतिक विभेद हैं, तो पाते हैं कि लोकतंत्र का बहुमत आधारित या वेस्टमिंस्टर मॉडल सांस्कृतिक विभेदों को सुलझाने में सक्षम नहीं है। 1990 के जनांदोलन के बाद अपनायी गयी नयी राजनीतिक व्यवस्था में बहिष्करण के पीछे यही कारण है।

सांस्कृतिक, जातीय और अन्य दृष्टियों से नेपाल विविधताओं से भरा है। इसके बावजूद हमने ऐकिक (केंद्रीकरणवादी) प्रणाली अपनायी है। यह प्रतिनिधिमूलक पद्धति है लेकिन बहुलतावादी समाज किसी न किसी तरह की आनुपातिक विधि अपना रहे हैं। मैं विशुद्ध आनुपातिक विधि की वकालत नहीं कर रहा। भारत, जर्मनी, न्यूजीलैंड और अमेरिका जैसे देशों में, जहां यह मॉडल अपनाया गया है, इस प्रणाली द्वारा होने वाले बहिष्करण को, संसदीय पदों के लिए सकारात्मक

आरक्षण की व्यवस्था या निर्वाचन क्षेत्रों में फेरबदल कर खत्म कर रहे हैं ताकि अल्पसंख्यक समुदायों का शामिल होना सुनिश्चित हो सके।

तीसरे कारक की दृष्टि से अधिसंख्य बहुलतावादी समाजों में संसद के सर्वांगसम दो सदनों के रूप में एक तरह का संतुलन कायम किया जाता है। सत्ता-संतुलन के मामले में ऊपरी और निचले सदन की हैसियत कमोबेश एक जैसी होती है। असंगत संरचना का मायने है कि निचला सदन एक निर्वाचन क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है, तो ऊपरी सदन किसी और क्षेत्र का। नेपाल में हमारा ऊपरी सदन बेहद असंतुलित है। यह लगभग निचले सदन की ही प्रतिकृति है।

चौथा कारक, अल्पसंख्यकों के अधिकारों की अनुपस्थिति है। लगभग सभी स्थापित लोकतांत्रिक बहुलतावादी समाजों में अल्पसंख्यकों के अधिकारों को संविधान की सुरक्षा प्राप्त है। नेपाल में इसका उल्टा हुआ। नेपाल में अल्पसंख्यक प्रभु समूहों को संविधान में राज्य को 'हिन्दू' घोषित कर सुरक्षा दी गयी है। लेकिन ये शासक अल्पसंख्यक हैं। इस प्रक्रिया को सामाजिक गतिमानता की प्रक्रिया ने सहयोग दिया।

1990 से खुले वातावरण के कारण पिछले दशक में नेपाल ने अधिकारों और अस्मिता की रक्षा के लिए कई लहरों को उठते देखा है। एक तरफ हमारे यहां मधेसियों, दलितों, जनजातियों और महिलाओं द्वारा सामाजिक न्याय के आंदोलन चल रहे हैं। आप कह सकते हैं हमारे यहां लोकतंत्र का नागरिक स्वरूप है क्योंकि इसमें उनके लिए अपनी मांगों को पेश करने और अपने अधिकारों के लिए लड़ने की गुंजाइश है। लेकिन दूसरी तरफ इस औपचारिक और बहिष्करणकारी सत्ता-संरचना के कारण ये उभार और लामबंदियां कोई सफलता हासिल करने में सक्षम नहीं हो पाती हैं।

आने वाले दिनों में हो सकता है, कुछ परिवर्तन हों, लेकिन जब तक यह राजनीतिक संरचना कायम रहेगी, तब तक मुझे शक है कि ऐसा होगा। यह राजनीतिक संरचना हाशिये पर खड़े समूहों का कई तरह से बहिष्कार कर रही है। यदि नेपाल में संघीय संरचना होती, तो हाशिये पर पड़े समूह क्षेत्रीय केन्द्रों में एकजुट होते और उस क्षेत्र में उनका

प्रभुत्व कायम होता। वे वहां सरकारों का गठन करते और उनके लोग जहां अपने आपको सक्षम पाते, वहां प्रशासन में भी होते। इस तरह परिवर्तन सम्भव हो सकता था।

लेकिन नेपाल में तो सत्ता का ऐकिक ढांचा है, जो एक जाति समूह द्वारा नियंत्रित होता है। इसमें कुछ विशेष जाति समूहों के लोग हैं, जो इसकी राजकीय नीतियों को लागू करते हैं, और ये उन्हीं नीतियों को लागू करते हैं, जिनके बारे में प्रभु समूह सोचता है कि ये ही पूरे राष्ट्र के लिए हितकर हैं। बहिष्करण की प्रक्रिया इस तरह से जारी है।

इससे जुड़ी समस्या यह है कि लोगों ने अपने अधिकारों के लिए आवाज बुलंद की है लेकिन ठोस रूप में कुछ नहीं हो रहा है। इससे आम लोगों में कुंठा और अलगाव की भावना पैदा हो रही है। समूहों के बीच खाइयां चौड़ी हो रही हैं। वंचित समूह प्रभु समूहों के खिलाफ अपने आप को कुछ खास समूहों से जोड़ रहे हैं। वे महसूस करते हैं कि प्रभुता-सम्पन्न समूह ही असली गुनहगार हैं। तो अस्मिता का निर्माण इस तरह हो रहा है। इसका परिणाम क्या होगा? तुलनात्मक अनुभवों से खुले समाजों में हम देखते हैं कि जहां गोलबंद होने, अधिकारों के लिए मांग करने, संगठित होने और आंदोलन करने की गंजाइश है, लेकिन निर्णय करने में कारगर भागीदारी का अभाव है, खासकर जहां संसाधनों तक पहुंच और अन्य चीजें प्रजातीय द्वन्द्वों से जुड़ी हों, तो उन देशों को (प्र)जातीय संघर्षों से गुजरना पड़ता है। दूसरी जगहों के तुलनात्मक अनुभवों के अनुसार नेपाल में जातीय संघर्ष की प्रबल आशंका है।

मैं स्पष्ट कर दूं कि यह लोकतंत्र की नहीं, बल्कि वर्तमान लोकतांत्रिक ढांचों की समीक्षा है, उनमें भी उसकी जिसे हमने अपनाया है और जो बहिष्करणकारी ढांचा है। वंचित समूहों की दृष्टि में राज्य की बहुत ज्यादा आलोचना नहीं कर रहा। मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूं कि राज्य-सत्ता को शिथिल होना चाहिए, जहां वह सक्रिय रूप से बहिष्करणकारी है। अन्य क्षेत्रों में इन समूहों को सम्मिलित करने में राज्य को सक्रिय भूमिका निभानी होगी। अगर हम बदलें - हम वर्तमान प्रतिनिधिमूलक प्रणाली की जगह संघीय प्रणाली अपनायें, किसी तरह के आनुपातिक

प्रतिनिधित्व को लागू करें या हम अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए संविधान में कोई अनुच्छेद जोड़ें या ससंद को संतुलित और सर्वांगसम बनायें - तब भी मैं नहीं सोचता कि तुरंत कोई ठोस परिवर्तन हो जायेगा। लेकिन मुझे विश्वास है कि इस मौलिक और आधारभूत परिवर्तन के बिना उपरोक्त समूहों का समावेश नहीं होगा।

## नेपाली समाज का लोकतंत्रीकरण : मुद्दे और चुनौतियां

गोपाल शिवाकोटी 'चिंतन'

मैं एक वकील हूँ, इसलिए मैं इस बाबत कुछ तर्क पेश करूंगा कि आखिर क्यों हमारी बहुदलीय व्यवस्था को हम सुदृढ़ करने में समर्थ नहीं हुए। मैं इसको लोकतंत्र नहीं कहता। जरूरी नहीं कि बहुदलीय व्यवस्था समाज और राजनीति के लोकतंत्रीकरण का एकमात्र रास्ता हो। विभिन्न मानवाधिकार आंदोलनों और अन्य गतिविधियों से जुड़े होने के नाते नेपाल में लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया के बारे में मेरी राय यह है कि हम अब तक लोकतंत्र का अर्थ और संभावनाओं को परिभाषित करने में असमर्थ रहे हैं। जब हम लोकतंत्र के बारे में बात करते हैं, तो उसमें बोलने, अभिव्यक्ति और संगठन की स्वतंत्रता की बात करते हैं और उससे आगे कहीं नहीं जाना! तो क्या अभाव है?

नेपाल में हमारी बहुदलीय व्यवस्था बुनियादी आर्थिक अधिकारों – यानी लोगों के लिए आय, रोजगार, बेरोजगारी भत्ता, भोजन का अधिकार और जिसे हम मानवाधिकार एक्टिविस्ट मकान एवं कपड़े का अधिकार कहते हैं – के समाधान में पूरी तरह से विफल हो चुकी है।

एक तरफ हम मजबूत लोकतांत्रिक राज्य की बात करते हैं, जबकि दूसरी तरफ हम पाते हैं कि राज्य जनता की जिम्मेदारी कतई नहीं लेता। हमारे यहां हर चौथे या पांचवें साल चुनाव होते हैं। उसमें क्या होता है? हम जानते हैं कि दक्षिण एशिया में चुनावों का संचालन कैसे होता है और इस मामले में नेपाल अलग नहीं है।

हमने सांस्कृतिक अधिकारों की बात नहीं की। एक पूरा मुद्दा आत्मनिर्णय या विकेन्द्रीकरण या स्वायत्तता, स्थानीय स्तर पर अधिकार, खासकर उन समूहों के लिए जो स्थानीय स्तर पर सामुदायिक जीवन जीते हैं, का भी है।

हमने जो पाया, वह विकेन्द्रीकरण विहीन राजनीतिक चुनाव है लेकिन नीति-निर्धारण में इन समुदायों की भागीदारी का हक नहीं, जबकि हम जिस तृणमूल (ग्रासरूट) लोकतंत्र की बात करते हैं, उसकी यही बुनियाद है। 'तृणमूल' शब्द होने भर से लोकतंत्र तृणमूल अभिमुख नहीं हो जाता। इसलिए अन्य देशों की तरह नेपाल में भी लाभों और संसाधनों तक पहुंच का अभाव बुनियादी समस्या है।

जब हम लोकतंत्र की बात करते हैं, तो इन पहलुओं पर विचार किया जाना चाहिए। अपने-अपने देश की हालत के मद्देनजर आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों के मुद्दों को शिद्दत से उठाया जाना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि राजनीतिक स्वतंत्रता पर बंदिश हो। लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं कि हम बहुसंख्यक आबादी के लिए अन्य मूल अधिकारों को नकार दें।

जब भी हम बौद्धिक के रूप में, एक्टिविस्ट के रूप में, नेता या किसी भी रूप में तृणमूल लोकतंत्र की बात करते हैं, तो हमें स्थानीय पहलकदमियों का सहयोग करने में सक्षम होना चाहिए। सभी समाजों और समुदायों में स्थानीय पहलकदमियां होती हैं, उसे ध्यान में रखा जाना चाहिए। स्थानीय जरूरतों को पूरा करना जरूरी है। लोकतंत्रीकरण की स्थानीय प्रक्रियाओं को प्रोत्साहन और मजबूती मिलनी चाहिए।

लोकतंत्रीकरण की हमारी प्रक्रिया से जुड़ी समस्या यह नहीं है कि हमारे नेता और राजनीतिक दल स्थानीय लोकतंत्रीकरण की प्रक्रियाओं का समर्थन नहीं कर रहे हैं, बल्कि यह है कि उनके द्वारा वैश्वीकरण की प्रक्रिया का अनुसरण किया जा रहा है। इसका कोई मायने नहीं कि हम किस राजनीतिक दल से सम्बन्धित हैं या आप किस विचारधारा की वकालत करते हैं। आप मूलतः उसीका अनुसरण कर रहे हैं, जो बाहर से अन्य लोग कह रहे हैं।

हमें हमारे अपने संदर्भ और बहुसंख्यक आबादी के हित में लोकतंत्र को परिभाषित करने की जरूरत है। तब स्वाभाविक रूप से कुछ सवाल उठेंगे - हम क्या सुदृढ़ करेंगे? किसके लिए सुदृढ़ करेंगे और कैसे करेंगे? कैसे ये अब भी लोकतंत्र के लिए विचारणीय बिन्दु हैं? मैं सुदृढ़ीकरण के सम्बन्ध में तीन बातें रखना चाहता हूँ।

पहला है पारदर्शिता का मुद्दा - सभी सरकारी गतिविधियों से सम्बंधित सूचनाओं का उद्घाटन। भ्रष्टाचार इसलिए है क्योंकि पारदर्शिता नहीं है, हम नहीं जानते कि क्या चल रहा है। हम बहुदलीय व्यवस्था की बात करते हैं लेकिन किसी व्यवस्था को बहुदलीय कहने का यह अर्थ नहीं है कि हमने सरकारी और अन्य गतिविधियों में पारदर्शिता की गारन्टी कर दी है। यही बात भागीदारी की प्रक्रिया पर भी लागू है। यह स्थानीय लोगों और समुदायों की नीति-निर्धारण में भागीदारी से जुड़ी है, लेकिन यह नहीं है। जब नीति-निर्धारण का मौका आता है, दो कारक आ जाते हैं - बाहरी और भीतरी। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है आन्तरिक कारक लोकतांत्रिक नहीं हैं। नेपाल के संविधान और कानून में प्रक्रिया के मामले में लोकतंत्र की गारन्टी नहीं है।

हम जिन बाहरी कारकों की बात कर रहे हैं, वे पारदेशीय निगमों के जरिये, विश्व बैंक के जरिये, अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के जरिये और एक नये साम्राज्य - विश्व व्यापार संगठन - के जरिये थोपे गये हैं। यह पैसे का लोकतंत्र है, जनता का लोकतंत्र नहीं। वे पारदर्शी नहीं हैं। उनके पास पैसा है, वे कर्ज देते हैं। लेकिन असल में उन्होंने हमारे तमाम निर्वाचित और अनिर्वाचित संस्थाओं को भ्रष्ट बना दिया है, क्योंकि हमारे नेताओं को पैसा चाहिए। उन्हें पैसा इसलिए चाहिए क्योंकि उन्हें चुनाव जीतना है।

नेपाल के मामले में, सभी तरह के संसाधनों और नीति-निर्धारण पर राज्य का नियंत्रण है। हालांकि मुक्त बाजार और लोकतंत्र की बात होती है। यह पूर्णतया दोहरा मापदंड है। सिर्फ यही नहीं, नेपाल में जातीय संघर्ष के साथ-साथ माओवादी संघर्ष भी उभार पर है। परिणामस्वरूप राज्य आतंकवाद पैदा हुआ है, जिसकी वजह से सभी तकलीफ झेल रहे

हैं। उदाहरण के लिए, पिछले एक दशक में एक भी आदमी को भ्रष्टाचार के लिए सजा नहीं दी गयी। यह पहले की निरंकुश व्यवस्था से भी बदतर है।

संसाधनों पर स्थानीय जनता के स्वामित्व के मामले में भी क्या हो रहा है? हम अपने सारे कानून बदल रहे हैं, ताकि उन पर समुदायों का कोई नियंत्रण नहीं रहे। पानी का निजीकरण इसलिए किया गया है क्योंकि इस पर राज्य का अधिकार है। नेपाल पूरी दुनिया में सामाजिक वानिकी के लिए जाना जाता है। अब हम एक नये विधेयक के खिलाफ लड़ रहे हैं, जिसमें सामुदायिक वनों के अधिकारों को खत्म करने का प्रावधान है। तर्क यह है कि समुदायों ने अपेक्षा के अनुरूप प्रबंधन नहीं किया। साजिश यह है कि इनका अधिग्रहण किया जाये, बहुराष्ट्रीय निगमों के निजी हाथों में सौंप दिया जाये। समाज के संसाधनों का अधिग्रहण कर हम जातीय, देशज और अल्पसंख्यकों से सम्बंधित किसी भी मुद्दे को नहीं सुलझा सकते।

चुनावी, संस्थागत प्रक्रिया और तंत्र धीमी मौत के शिकार हैं। लोग चुनाव प्रक्रिया के प्रति विश्वास खो रहे हैं। ये चुनी गयी संस्थाएं भी अपनी वैधता, अपना प्रभाव और पारदर्शिता खो रही हैं। कुछ लोग प्रजातीय राज्य की बात करते हैं। कुछ सशस्त्र क्रांति की बात करते हैं। लेकिन जिनसे परिवर्तन के शान्तिपूर्ण तरीकों को वैधता प्रदान किये जाने की अपेक्षा की जाती है, उनकी अपनी वैधता भी नहीं रहीं, उनकी उनके अपने निर्वाचन क्षेत्रों तक में पूछ नहीं।

सम्पूर्ण दक्षिण एशिया के साथ नेपाली समाज में भी सैन्यीकरण बढ़ रहा है। इससे समाज में हिंसा बढ़ी है। लोगों में विकल्पों की चर्चा नहीं है। हम जैसे लोगों के भी दोहरे मापदंड हैं। मैं बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों, नेताओं आदि की बात कर रहा हूँ। कारगर नागरिक समाज नहीं है, कोई संगठित प्रयास नहीं है। हमारे पास कोई क्षेत्रीय राजनीतिक रणनीति नहीं है। उसके लिए हमें चाहिए कि सीमा पार के मुद्दों को सुलझाना शुरू करें। साथ ही राष्ट्रीय से लेकर क्षेत्रीय स्तर तक अपनी संस्थाओं का लोकतंत्रीकरण करने की जरूरत है।

## विमर्श

**सी. लक्ष्मणन** : लोकतंत्र राजनीतिक दलों के जनाधार पर टिका है। भारत और अन्य दक्षिण एशियाई देशों में जनाधार के तीन आधार तत्व होते हैं:

1. मौलिक : जाति और नृजातीयता पर आधारित।

2. व्यक्तित्व : मेरे अकादमिक विश्लेषण के लिए यही मुख्य मामला है। हालांकि मैं भाजपा का समर्थक नहीं हूँ, मैं वाजपेई को पसन्द करता हूँ। मैं डीएमके का समर्थक नहीं हूँ लेकिन मैं करुणानिधि को पसन्द करता हूँ। हमारी पार्टी सिर्फ इसलिए राजग का समर्थन कर रही है क्योंकि वाजपेई प्रधानमंत्री हैं। भारतीय लोकतंत्र में ऐसा बहुत ज्यादा है।

3. मुद्दे और निष्पत्ति : किसी भी लोकतांत्रिक संस्था की सफलता के लिए यह जरूरी है। लेकिन दक्षिण एशियाई देशों में इनकी पूरी तरह से उपेक्षा की गयी है।

मूलतः इस देश के मतदाता अपना वोट आदिम सम्बंधों या व्यक्तित्व के आधार पर देते हैं। और, उसमें भी किसी नेता का करिश्मा या लोकप्रियता का असर ज्यादा होता है। खतरा यह है कि जब जनता का समर्थन व्यक्तित्व पर आधारित होता है, तो आपको निश्चित रूप से तानाशाही, उन्माद हाथ आयेगा। इससे लोकतांत्रिक मूल्यों का क्षरण निश्चित है। हमें जनता को पार्टियों, उम्मीदवारों और सरकार के काम-काज के आधार पर स्थितियों का आकलन करने लायक बनाना होगा।

**वीबी सिंह** : लोकतंत्र में सबसे बड़ी नेमत है अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, संगठन बनाने की स्वतंत्रता, आंदोलन करने की स्वतंत्रता और जनता के हाथों में सत्ता का होना। इसमें राजनीतिक दलों की भूमिका काफी महत्वपूर्ण होती है। हम अपने राजनीतिक दलों से बहुत कम सवाल पूछते हैं। उदाहरण के लिए, हमारी उनसे क्या अपेक्षा है? राजनीतिक दलों का कामकाज, सरकार, चुनाव और सभी चीजें आदिम

आस्थाओं, जातीय समूहों, जाति और साम्प्रदायिक राजनीति के साथ जुड़ी होती हैं।

नेता लोग जनता का समर्थन पाने में इसलिए सफल हैं क्योंकि मतदाता उनकी भूमिका का विश्लेषण नहीं कर पाते हैं। राजनीतिक दल लोगों को शिक्षित करने की भूमिका छोड़ चुके हैं और वे सिर्फ चुनावी मशीन बन चुके हैं। उनका एकमात्र उद्देश्य सत्ता पर कब्जा करना है।

हम कहते हैं कि सरकार को पारदर्शी होना चाहिए। जब हम कहते हैं सरकार पारदर्शी है, तो क्या जनता इसका मायने समझती है? हम लोगों को अपने नेताओं से सवाल पूछने लायक बनायें कि 'क्या आप पारदर्शी हैं?' चुनाव के दौरान यदि वे इस तरह के मुद्दे उठावें, तो पूरी प्रक्रिया बदल सकती है। इसलिए हमें किसी भी राजनीतिक दल के समक्ष सवाल पेश करने चाहिए। यह लोकतंत्र का सामान्य आधारभूत सिद्धांत है।

**इकबाल अन्सारी**: मुझे खुशी है कि सामाजिक विविधता के सन्दर्भ में प्रतिनिधित्व का मुद्दा उठाया गया है। वेस्टमिंस्टर मॉडल, जो फर्स्ट-पास्ट-पोस्ट-सिस्टम है और बहुमत पर आधारित है, प्रतिनिधि मूलक स्थितियों को विकृत करता है। इस सिलसिले में पेश यूरोपीय देशों के उदाहरण सही हैं कि आयरलैंड का समझौता ठीक से चल नहीं रहा, हालांकि वे पर्याप्त प्रतिनिधित्व के लिए वेस्टमिंस्टर मॉडल छोड़ चुके हैं।

लेकिन भारत इस मायने में अपवाद दिखता है कि यहां संसद और विधानसभाओं में प्रतिनिधित्व को सकारात्मक करार दिया गया है। शायद यह छवि पेश है कि इसने अल्पसंख्यकों के मुद्दों को सुलझाने में भी कामयाबी हासिल की है। लेकिन मैं स्पष्ट कर दूँ कि बात यह नहीं है। पहली लोकसभा से अंतिम लोकसभा तक मुसलमानों के संबंध में बहुत बड़े पैमाने पर इसी तरह की गलत बयानी की जा रही है। उनकी आबादी औसतन 15 प्रतिशत है, उससे आप क्या अपेक्षा कर सकते हैं? इस बारे में कोई सकारात्मक कार्रवाई नहीं हुई। यह संविधान का प्रारूप तैयार करते वक्त ही प्रस्तावित था। यह आश्वासन दिया गया था कि

सीटों की संवैधानिक गारंटी के बगैर, पूर्व में बरकरार अल्पसंख्यकों तथा अन्य समूहों की आबादी के अनुपात में प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की तरह, पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने की बात चलेगी। लेकिन ऐसा नहीं हो पाया। सो भारत में भी, अनुसूचित जातियों और जन जातियों, जिनके लिए आरक्षण व्यवस्था की गई, को छोड़ बाकी के लिए अलगाव की स्थिति कायम रह गयी।

**विश्वबन्धु गुप्ता :** क्या करने की जरूरत है, इस बात को लेकर मैं 1990 से 2000 तक सत्ता पर काबिज तीन सरकारों के संपर्क में रहा। मैंने पाया कि तीनों सरकारों के प्रधानमंत्रियों के पास किसी भी विषय के लिए कल-पुर्जे से लैस प्लान (नट्स एंड बोल्ड प्लान) जैसा कुछ नहीं है। नट-बोल्ड प्लान आपको किसी सुधार के लिए जरूरी आर्थिक संसाधन और राजनीतिक सहयोग मुहैया करता है। मुझे लगता है कि भारतीय बुद्धिजीवियों ने राजनीतिक प्रक्रिया को बेकाम कर दिया क्योंकि वे अपने आपको किसी भी वर्ग से जोड़ने में नाकामयाब रहे हैं। उन्होंने खुद को अलग-थलग रखा।

नेपाल में मैंने देखा कि आप किसी भी रास्ते से सत्ता पर काबिज हो सकते हैं। क्योंकि लोकतंत्र ने यहां कई-कई लोगों को सत्ता में आने का अवसर दिया है। लेकिन अगर आपके पास कल-पुर्जे कसने जैसी नीति नहीं है, सत्ता में आने के वक्त कोई योजना नहीं है, तो तय है कि आप फेल होंगे। वर्तमान सरकार भी असफल हो रही है, क्योंकि उसके पास भी कई मामलों में ऐसी नीति नहीं है। यदि आपके पास कल-पुर्जा कसने जैसी नीति नहीं है, तो आप एक ही परिधि में चक्कर लगाते रहेंगे। इस सिलसिले में भारतीय अनुभवों से सीख ली जा सकती है। आप नट-बोल्ड पॉलिसी तैयार रखें, ताकि संयोगवश भी कभी आप सत्ता में आयें, तो किसी का इंतजार किए बगैर आप उसे लागू करें।

**विजय प्रताप :** वैचारिक शुद्धतावाद बहुत विध्वंसक रहा है। अपने आंतरिक सामाजिक-आर्थिक गतिविज्ञान की पहचान न कर कम्युनिस्ट और समाजवादी दोनों आंदोलनों ने एक-दूसरे को तहस-नहस किया है। यह पहली बात है, जो मैं कहना चाहता हूँ।

दूसरी बात यह है कि आंतरिक ढांचे के अनुरूप किसी में विचारधारा की स्थिरता और स्पष्टता अब नहीं बची है। क्योंकि तकनीकी वजहें सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों को लगातार बदल रही हैं। पहले किसी भी आंदोलन के लिए विचारधारा में निष्ठा को सामान्य रूप से सार्वभौमिक और चिरस्थायी माना जाता था। लेकिन अब इस तरह की निष्ठावान मानसिकता नहीं रही क्योंकि जो पार्टी लाइन आज बहुत परिश्रम और व्यावहारिक अनुभवों से तय की जाती है, वह कल अप्रासंगिक हो जाती है। पार्टियों और विचारधाराओं को किसी न किसी तरह की संवाद-युक्त ढांचे का निर्माण करना होगा, जिसमें एक स्तर पर 'नट-बोल्ड' पर चर्चा हो और दूसरे स्तर पर मूल्यों, मूल्यों के नवीकरण और भविष्य के सपनों की चर्चा हो।

तीसरी बात है, हमने दलीय व्यवस्था में प्रतिस्पर्धी लोकप्रियतावाद की भूमिका और पार्टी प्रणाली में एक-दूसरे की कमजोरियों को बढ़ाने वाली स्थितियों के बारे में पर्याप्त चर्चा नहीं की। यह सब करने की बजाय पार्टियों को सत्ता के लिए स्पर्धा करने के साथ-साथ किसी न किसी प्रकार का सहमतजन्य तरीका भी ईजाद करना चाहिए था।

चौथी बात राजनीतिक हस्तक्षेप के बारे में है। हमें सामूहिकताओं के समर्थन की जरूरत है। दक्षिण एशिया में धर्म और जातियों की परंपरागत सामूहिकताएं हैं। विचारधाराओं ने दूसरी किस्म की सामूहिकता की संभावनाएं प्रदान की हैं। अब विरोधाभास यह है कि हमारे भारत में कम से कम दो अतिवादी रूप हैं। मुलायम सिंह और लालू यादव प्रभावी हैं क्योंकि वे परंपरागत जाति व्यवस्था की राजनीति में माहिर हैं और उनके लिए अपनी भाषा शैली में लोगों को गोलबंद करना आसान है। जो पार्टियां लोकतंत्र, लोकतांत्रिक केन्द्रवाद में विश्वास नहीं करतीं, वे भी किसी न किसी संरचना को बनाए रखने में सक्षम हैं। लेकिन जो पार्टियां वैयक्तिकता और सामूहिकता को जोड़ने की कोशिश कर रही हैं, वे विफल हो रही हैं। इसलिए यह हमारे वक्त और विचारधाराओं की साझी विफलता है। तो सवाल यह है कि हम कैसे नए आधुनिक समुदाय को जोड़ सकते हैं या उसका पुनर्निर्माण कर सकते हैं, जिसमें

आंतरिक सामूहिकता हो और इसका अपना अनुशासन हो लेकिन साथ में यह वैयक्तिकता के लिए गुंजाइश करने में भी सक्षम हो?

अंतिम बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि वैश्वीकरण भी हमारी पार्टियों की वैधता और विश्वसनीयता को काफी क्षति पहुंचा रहा है। यहां तक कि ग्रीन पार्टियां, जो विकास के मॉडल की दृष्टि-सम्पन्न आलोचक हैं, जब 50 लाख की आबादी वाले यूरोपीय राज्य में प्रवेश करती हैं, तो वे भी नव उदारवादी हो जाती हैं।

हमें लोकतंत्र के मुद्दे को विकास के मॉडल के मुद्दे से जोड़ने की जरूरत है। इसमें एक नये तरह की सार्वभौमिकता की आवश्यकता है। भारत, नेपाल या तीसरी दुनिया के लगभग देश में वाशिंगटन या जेनेवा की बाहरी प्रक्रियाओं की वजह से लोकतांत्रिक दायरा सिमट रहा है। हमारे पास अभी तक इन स्थितियों का जवाब देने के लिए लोकतांत्रिक सार्वभौमिक भाषा नहीं है।

वैश्विक साझेदारी, चाहे वह सोवियत कैम्प की हो या सोशलिस्ट इंटरनेशनल की, तीसरी दुनिया के देशों के लिए अलाभप्रद रही है। इसलिए यूरोपीय अतिवादियों और उत्तरी अतिवादियों और सर्वमुक्तिवाद की नयी दृष्टि के लिए एक नए तरह की समतावादी साझेदारी की जरूरत है, जो शीतयुद्ध के युग की अपेक्षा अधिक समतावादी हो।

**हरि रोका :** नेपाल में वेस्टमिंस्टर मॉडल पहले ही विफल हो चुका है। हमने इसे स्वीकार किया है। एक छोटा देश होने की वजह से हम आसानी से लोगों की भावनाओं को समझ सकते हैं। यह पूर्ण विफलता नहीं है लेकिन अर्थ व्यवस्था, राजनीति और सामाजिक न्याय की अवधारणा धीरे-धीरे रसातल में जा रही है। वहां लोकतंत्र नाम की चीज है ही नहीं।

**झलनाथ खनाल :** नेपाल में राजनीतिक परिवर्तनों की दो प्रमुख चरण रहे हैं। पहला 1950 में तथा दूसरा 1990 में। 1950 में एक जालिम सरकार को अपदस्थ किया गया, जो 104 वर्षों से कायम थी और जनता के लोकतांत्रिक अधिकारों की बहाली की गई। मैं सोचता हूँ कि किसी भी देश में किसी बड़े परिवर्तन के मद्देनजर तीन कार्य

अवश्य पूरे किए जाने चाहिए। सबसे पहला है परिवर्तन की प्रक्रिया से पैदा हुए मूल्यों और दृष्टिकोणों को संवैधानिक मान्यता प्रदान करना। लेकिन 1950 में लोगों की आकांक्षाओं के अनुरूप हम नये संविधान की रचना नहीं कर पाये। पहला काम नहीं किया गया।

दूसरा काम था राज्य की संरचनाओं का पुनर्निर्माण। यह भी 1950 में नहीं किया गया। तीसरा काम सामाजिक-आर्थिक ढांचों के रूपांतरण का था। चूंकि 1950 में उपरोक्त तीनों काम नहीं किये गये, इसलिए हम उस वक्त हासिल लोकतांत्रिक अधिकारों को रक्षा नहीं कर पाये। दस वर्ष के बाद फिर एक नयी किस्म की जालिम व्यवस्था स्थापित हुयी और सामंती शक्तियां सत्ता पर काबिज हुईं। नेपाली समाज को एक बार फिर क्रूर शासन के 30 साल भुगतने पड़े।

1990 में नेपाली जनता ने फिर इस व्यवस्था को उखाड़ फेंका। परिवर्तन के लिए सिर्फ राजनीतिक नेताओं का नहीं, बल्कि आम जनता का भी बहुत खून बहा। उसके बाद एक नया संविधान बनाया गया। इस संविधान ने जनता को कई मूलभूत अधिकार दिये। यह 20वीं सदी के हमारे इतिहास में एक बहुत बड़ा परिवर्तन था। परिवर्तन का संवैधानीकरण किया गया। हालांकि इसको सही ढंग से नहीं किया गया। इस मामले में हमें आज भी पूर्णता हासिल करनी है।

इस संविधान की स्थापना के बाद दो अन्य काम - राज्य की पुनर्संरचना और सामाजिक-आर्थिक रूपांतरण - नहीं किये गये। बहुत सारी समस्याएं, अन्तर्विरोध और द्वन्द्व हमारे समाज में उभर रहे हैं। इसके लिए हम किस पर दोषरोपण करें? यह विश्लेषण का विषय है। मैं सोचता हूँ कि 1990 में बहाल बहुदलीय लोकतंत्र को इसके लिए दोषी नहीं करार दिया जा सकता। लेकिन पिछले 11 सालों से जिस राजनीतिक नेतृत्व ने शासन चलाया, उसने कई गलत काम किये। उनके पास जनपक्षीय नीतियां या राष्ट्रीय विकास की कोई दृष्टि नहीं थी। उनमें गरीबों और अल्पसंख्यकों की समस्याओं के प्रति कोई संवेदनशीलता नहीं थी।

यदि शासन करने वाली पार्टी अपना दृष्टिकोण, कार्यक्रम और



नीतियां बदले, तो हम लोकतंत्र, राज्य, समाज और अर्थव्यवस्था की पुनर्संरचना का कार्य कर सकते हैं। तब हम लोकतंत्र के सुदृढीकरण का काम भी कर सकते हैं। यदि ये दो काम हमारे देश में किये जा सकें, तो एक नयी और सकारात्मक प्रक्रिया विकसित की जा सकती है।

**केसी नाहटा :** लोकतंत्र को आगे बढ़ाने के लिए भारत में 550 राजनीतिक दल हैं। लेकिन फिर भी लोकतंत्र पटरी से उतरता दिखता है। इतनी सारी पार्टियां मतदाताओं को लुभाने का काम करती हैं लेकिन ऐसा कोई संगठन नहीं है जो मुख्यतः मतदाता-शिक्षण का काम करे, ताकि पार्टियों को वापस पटरी पर लाया जा सके। हैदराबाद में एक संगठन है - 'लोकसत्ता'। उसने हमारे देश में मतदान की स्थिति पर व्यापक सर्वेक्षण कर कुछ परिणाम पेश किये हैं। उस सर्वेक्षण के अनुसार नगर क्षेत्र के मतदान में 80 प्रतिशत अनियमितताएं पायी गयीं जबकि वहीं यह औसत ग्रामीण क्षेत्रों में सिर्फ 20 प्रतिशत है। उन्होंने चुनाव लड़ने वाले अपराधियों की संख्या पर भी एक सर्वे किया है। जबकि चुनाव आयोग और मीडिया इस पर सिर्फ चुनाव के दौरान काम करता है। लेकिन यदि हमारे पास ऐसा संगठन हो, जो सालों भर मतदाताओं की शिक्षा के लिए पूरी तरह काम करे तो हमारे लोकतंत्र की दिशा बदल सकती है। हमारे देश में हजारों गैरसरकारी संगठन हैं। यदि वे अपनी ऊर्जा का छोटा सा हिस्सा भी इसमें खर्च करें, तो यह काम हो सकता है। इससे उनको भी फायदा होगा। क्योंकि यदि हमारा लोकतंत्र मजबूत होगा तो बहुत से काम जो फिलहाल वे कर रहे हैं, उनको करने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

**प्रो. डीएल शेट (अध्यक्षीय भाषण) :** जिस तरह हमें लोकतंत्र पर चर्चा करते हुए नव औपनिवेशिक विमर्श से बाहर निकलना है, उसी तरह शीतयुद्ध विमर्श से भी बाहर निकलने की जरूरत है। शीतयुद्ध विमर्श तो लोकतंत्र बनाम गैरलोकतंत्र पर केन्द्रित था। इसी को हम अपने साथ तीसरी दुनिया के देशों में ले आये। मैं सोचता हूँ कि यह अनुत्पादक साबित हुआ। रस्सी जल गयी लेकिन अभी भी ऐंठन नहीं गयी। इसलिए हम आसानी से लोकतंत्र बनाम गैरलोकतंत्र की बहस में फिसल जाते हैं।

लोकतंत्र के सुदृढीकरण में एक समस्या है। यह लोकतंत्र को गहरा करने के बारे में होना चाहिए। वैश्वीकरण के विमर्श में लोकतंत्र के सिर्फ एक रूप को लोकतांत्रिक माना जाता है। वह बाजार का लोकतंत्र है। अन्य सभी रूप अवैध हैं। सभी अन्य विकल्प विनाशकारी हैं। यहां तक कि बाजारवादी लोकतंत्र के रूप में लोकतंत्र की एक नयी वैश्विक समझ के लिए सभी लोकतांत्रिक प्रयोगों और शासन के रूपों को अवैध घोषित किया जा रहा है। यह सिर्फ सैन्य ताकत और आर्थिक रूप से समृद्ध देशों में लोकतंत्र को सुदृढ कर रहा है लेकिन शेष दुनिया में अस्थिरता पैदा कर रहा है। यही वजह है कि तीसरी दुनिया तक सीमित शीतयुद्ध के तर्क से उत्तर को कोई सरोकार नहीं है।

तीसरी बात सुदृढीकरण के बारे में है। इस वैश्विक स्थिति के कारण हम सुदृढीकरण बनाम सघनीकरण की स्थिति में रहे हैं। लेकिन सुदृढीकरण हमेशा लोकतंत्र की अभिजात संरचना में ढूँढा जाता है, इस पर हम पहले चर्चा कर चुके हैं या फिर सुदृढीकरण का अर्थ होता है राजनीतिक अल्पसंख्यक का शासकीय सत्ता रूप - शहरी, शिक्षित, उच्च जाति और पुरुष सत्ता का रूप।

लेकिन विकल्पों को लोकतंत्र के भीतर ही तलाशना होगा। अब शीतयुद्ध का तर्क नहीं चलनेवाला। सघनीकरण का मतलब है राजनीतिक समानता से समता के अन्य स्वरूपों की वैधता स्थापित करने की दिशा में गहरे उतरना, जिसे करने में प्रतिनिधिमूलक लोकतंत्र कम से कम हमारे महाद्वीप में विफल रहा है। यही असली चुनौती है।

## वक्ताओं के जवाब

**गोपाल शिवाकोटी 'चिन्तन'** : मैं कोई शिक्षाशास्त्री या राजनेता नहीं हूँ। मैं बड़े बांधों, भ्रष्टाचार और चुनावी व्यय के खिलाफ अभियान के जमीनी अनुभवों के आधार पर बोल रहा था। सुधार पर्याप्त नहीं हैं। नेपाल में हमने देख लिया। परिवर्तन चाहिए। लेकिन कैसे? क्या हम सामाजिक रूपांतरण कर सकते हैं और वह परिवर्तन शांतिपूर्ण ढंग से होगा? यह हम सबके लिए चुनौती है। क्योंकि अन्य लोग पहले ही अपने हाथ खड़े कर चुके हैं। सिर्फ राजनीतिक दलों पर ध्यान क्यों केंद्रित किया जाये? क्योंकि उनके हाथ में राजनीतिक सत्ता रहती है। क्योंकि हमारी संस्थाओं और संरचनाओं ने उन्हें सभी राजनीतिक शक्तियाँ दी हैं। लेकिन वे अन्य या बाहरी हितों को वैधता प्रदान करते हैं। हमें उन पर आरोप लगाना और उनकी आलोचना करनी ही है। इसका मतलब यह नहीं कि हमें अपनी भूमिका और जिम्मेदारी से मुंह मोड़ना है।

बिना किसी आयोजना के सत्ता में आने के सिलसिले में, मैं यह नहीं कह रहा कि सत्ता में किस-किस तरह से लोग पहुंचते हैं। बल्कि कैसे-कैसे लोग कैसी प्रतिबद्धता और कैसे कार्यक्रम लिये सत्ता में आते हैं, मैं इस बारे में कह रहा था। पिछले दस सालों में हमने एक ही तरह की चीज देखी है - इससे कोई मतलब नहीं कि कौन सत्ता में आता है। मैंने जो मुद्दा उठाने की कोशिश की, वह वैचारिक नहीं बल्कि प्रक्रिया पर आधारित है। जो भी लोकतांत्रिक अधिकार हमने प्राप्त किये हैं, यदि कोई प्रक्रिया होगी तो हर कोई हिस्सेदारी कर सकता है। दुर्भाग्य से ऐसा नहीं है। आज जब हमारे सारे आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक मुद्दे और प्राथमिकताएं बाहरी ताकतों के द्वारा निर्धारित हो रही हैं, तो इस समय अपने अधिकारों और राष्ट्रीय हितों को बचाने के लिए हमें ज्यादा जुझारू होना पड़ेगा। हमें इस बारे में कोई भ्रम नहीं है कि गैरसरकारी संस्थाएं सही काम कर रही हैं। आंदोलन करने वाली संस्थाओं को छोड़, अधिसंख्य एनजीओ मूलतः बाहरी ताकतों से प्राप्त धन, निर्देश और प्राथमिकताओं का अनुपालन कर रही हैं। ये संस्थाएं न तो पारदर्शी हैं और न ही जिम्मेदार।

**महेन्द्र लावती** : मैं नेपाली राजनीतिक अभिजनों के पक्ष में कुछ बातें रखना चाहता हूँ। नेपाल में शासन के संकट से लेकर हर बात के लिए राजनीतिक नेताओं को दोष दिया जाता है। हाशिये पर जीवन बिताने वाले समूहों के राजनीतिक निषेध के बारे में बात करते हुए मैंने यह अनुमानित आंकड़ा नहीं पेश नहीं किया कि वर्तमान नेता ही पूरी तरह से दोषी नहीं हैं। उदाहरण के लिए मैं 1990 के पहले और बाद के आंकड़ों की तुलना करूंगा। जब राजा की सत्ता थी, तो क्षेत्री लोगों ने संसद में अच्छी भूमिका निभाई। आज प्रमुख राजनीतिक दलों में बहुत लोग अधिक प्रभुत्व-सम्पन्न हैं। यूएमएल और नेपाली कांग्रेस में बहुन का वर्चस्व है। इसी तरह 1999 में एमाले के 87 प्रतिशत केन्द्रीय नेता बहुन थे। नेपाली कांग्रेस में उनकी संख्या 70 प्रतिशत थी। संयोगवश नेकपा (नेपाल कम्युनिस्ट पार्टी -माले) की अध्यक्ष साहना प्रधान नेवार थीं। नेवारों की स्थिति उस पार्टी में अच्छी है। बहुन और क्षेत्री लोगों की संख्या लगभग 50 प्रतिशत है। राष्ट्रीय प्रजातंत्र पार्टी और राष्ट्रीय प्रजातंत्र पार्टी (चांद) जैसी क्षेत्री नेतृत्व वाली राजनीतिक पार्टियों में, 1999 के आंकड़े बताते हैं, क्षेत्री और बहुन लोगों का प्रभाव ज्यादा नहीं था।

अल्पसंख्यकों के राजनीतिक अलगाव के मामले में उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियाँ महत्वपूर्ण हैं। राजनीतिक अभिजनों का व्यवहार ही अलगाव की प्रकृति का निर्धारण करता है। नेपाल में राजनीतिक अभिजनों का पहले का और आज का व्यवहार एक सा है। यह भविष्य में भी नहीं बदलने जा रहा। वास्तव में अल्पसंख्यकों के राजनीतिक अलगाव को रोकने के लिए ढांचागत परिवर्तन जरूरी है।

**पूर्णकांत अधिकारी** : सामाजिक परिवर्तन या विकास, इसे आप जो भी कहें, यह मूल रूप में जनता की मानवीय गतिविधियों और टेक्नॉलाजी के बीच की सहक्रिया है। राजनेताओं की अपनी अलग भूमिका है। दलों और राज्य की अन्य एजेंसियों की अपनी-अपनी भूमिका है तथा नागरिक समाज की भी अपनी भूमिका है। यह सामाजिक परिवर्तन पूरी तरह से संभव नहीं है। यदि आप 'नट और बोल्ट' को साथ रखना चाहते हैं तो आपको इस सहक्रिया को भी चलाना होगा।

## नेपाल में लोकतंत्र : सीमा और संभावना

विचार

प्रायश्चित और पश्चाताप से नयी शुरूआत संभव

प्रदीप गिरी

माओवादियों को मुख्यधारा में लाना होगा

हरि रोका

लोकतंत्र का नया मॉडल चाहिए

विमलेंद्र निधि

सहभागिता में है संकट का समाधान

चित्रलेखा यादव

विमर्श

## प्रायश्चित और पश्चाताप से नयी शुरुआत संभव

प्रदीप गिरी

आज नेपाल में सवाल शेर बहादुर देउबा की सरकार का नहीं है, गिरिजा बाबू की सरकार का भी नहीं है और न ही माधव नेपाल की सरकार का है। वर्तमान व्यवस्था ही टिक नहीं पायेगी, लक्षण ऐसे दिखायी पड़ रहे थे। हम अपनी आंखों के सामने यह सब होते देख रहे हैं। केन्द्र सारी चीजों को संभाल सकने की स्थिति में नहीं था। विगत 4-5 साल से सारे लक्षण दिखाई पड़ रहे थे कि नेपाल की व्यवस्था नाम की चीज समाप्त होने जा रही है और हम मूक दर्शक बने हुए हैं। जिस तरह भारत में सांप्रदायिकता का उभार दिख रहा है - नरेन्द्र मोदी की विजय हो रही है और आप आसानी से देख सकते हैं विशाल भारतवर्ष में क्या होने जा रहा है। लेकिन भारतीय क्या कर सकते हैं! मेडिकल साईंस में जैसे एड्स फैला है - डाक्टर लाचार हैं - ऐसे ही हम लाचार हैं। एक विशिष्ट प्रकार की राजनैतिक प्रणाली हमारे सामने क्षत-विक्षत हो रही है। हम देख रहे हैं, अनुभव कर रहे हैं और कुछ संवेदनशील लोग कह भी रहे हैं कि सब कुछ टूटने-बिखरने जा रहा है। मैं केवल नेपाल के बारे में नहीं बोल रहा। हिन्दुस्तान में जो व्यवस्था है, बाहर से चाहे कितनी ही दृढ़ दिखाई दे, अन्दर से इसकी कमजोरियां और खोखलापन कश्मीर से असम तक फैलता दिखाई देता है। न्यूक्लियर शक्ति और बम के आधार पर भारत अपने आप में टिक नहीं सकता। कश्मीर में कितनी फौज है! 10 लाख, 5 लाख लेकिन शक्ति और हिंसा के आध

र पर समस्या का समाधान होना होता, तो सारी समस्याओं का समाधान अब तक हो गया होता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। दूसरी समस्या यह है कि आज अधिकांश राज्य प्रणालियां सैन्य शक्ति के बूते पर खड़ी हैं। दक्षिण एशिया में हमें जो राज्य व्यवस्थाएं मिली हैं, वे सीधे ब्रिटिश उपनिवेशवाद की परम्परा से आयी हैं। यह सब ब्रिटिश उपनिवेश की देन है। भारत में, बांग्लादेश में, पाकिस्तान में और एक हद तक नेपाल में भी। हम वास्तविक जनता की ताकत के आधार पर सत्ता पर टिके नहीं रहते। जनता का वोट तो हमें केवल मंत्री या प्रधानमंत्री बनने के लिए पांच साल में एक बार चाहिए। हम पूरी तरह से नौकरशाही, सशक्त सेना और पुलिस पर निर्भर रहकर व पुरानी व्यवस्था के स्रोतों पर निर्भर होकर चलते हैं। जवाहरलालजी प्रधानमंत्री बने लेकिन नौकरशाही वही रही, जिसका नेतृत्व गिरिजा शंकर वाजपेयी करते थे। इसके खिलाफ दुनिया भर में कई बार विद्रोह हुआ है। मार्क्स के बाद लेनिन के नेतृत्व में जो क्रान्ति हुई, लेनिन की सर्वाधिक क्रान्तिकारी पुस्तक 'राज्यसत्ता और क्रान्ति' में, यही कहा गया है कि समाजवादी व्यवस्था में स्टैंडिंग आर्मी नहीं होती है, समाजवादी राज्य में आत्मनियंत्रित व्यवस्था होती है और हरेक व्यक्ति राज्य में प्रत्यक्ष तौर पर हिस्सेदारी करता है। सर्व साधारण को भी राज्य की बारीकियां और जटिलताओं के बारे में बताया जायेगा। यह तो कल्पना थी। गांधी जी ने दूसरे किनारे में रहने वाले लोगों की बात की थी, जो ग्राम स्वराज की अवधारणा है। उसमें उन्होंने कहा था कि केन्द्र के पास बहुत कम अधिकार होंगे, आम जनता को अपनी स्फूर्ति से, अपनी गतिविधियों और अपनी समझदारी से भारत को स्वशासित करना होगा। ये दो सपने थे - लेनिन का स्टेट ऑफ सोसायटी का सपना और गांधीजी का 'स्वशासित राज्य' का सपना। इन्हें कोई भी राज्य अपने भीतर लागू नहीं कर सका। चीन में माओत्से तुंग ने अपने समय में यह महसूस किया कि वहां भी नौकरशाही मजबूत हो गयी है। मेरी सामान्य सोच यही है कि नेपाल में लोकतंत्र समाप्त होने की जो घटना अभी घटी है, यह मूलतः विश्व में प्रचलित एक खास किस्म की लोकतांत्रिक प्रणाली को पवित्र लोकतांत्रिक व्यवस्था मानने की भूल के कारण हुआ है।

हमारे नेतृत्व की गलती व्यक्तिगत चरित्र और समझ से भी ज्यादा, सारी दुनिया की इस मान्यता से कि ब्रिटेन का संसदीय लोकतंत्र एकमात्र पवित्र लोकतंत्र है, इससे हुई है। और, इसको लेकर बहस या विवाद नहीं करना चाहिए। यह लोकतंत्र किस पर टिका है? सेना वही, पुलिस वही, गुप्तचर वही, संस्कार, स्कूल-कालेज ही नहीं बल्कि योजना आयोग भी पुराना, महालेखा परीक्षक और न्यायाधीश भी पुराना। कुछ बदलता है तो वह है शक्ल, मरीचमान की जगह पर गिरिजा बाबू। मैं यह बात अक्सर कहता हूँ। इसका मतलब यह नहीं है प्रेस की स्वतंत्रता, वाक् स्वतंत्रता और संगठन बनाने की स्वतंत्रता का कोई महत्व नहीं है। विगत 12 सालों में नेपाल में कुछ नहीं हुआ, मैं ऐसा भी नहीं कह रहा हूँ। गत 12 सालों में नेपाल में जिस चेतना का विस्फोट हुआ - माओवादियों की सफलताओं को भी मैं इसके साथ जोड़ रहा हूँ - यह कोई मामूली बात नहीं है। नकारात्मक बात भी नहीं है, वह इसलिए कि हिन्दुस्तान में आकर, लाहौर जाकर (लाहुरे नाम भी इसलिए पड़ा) सदा विदेशी सेना में, होटलों में काम करने वाले, चौकीदार बनने के लिए मजबूर नेपाली युवाओं ने अपने देश के भीतर रहकर पुरानी बन्दूकों के सहारे से लड़ाई लड़ी। इसको नकारात्मक दृष्टि से देखने की जरूरत नहीं है। जैसे, भगत सिंह को गांधी जी ने दिग्भ्रमित देशभक्त क्रांतिकारी, यह मैं भी कह रहा हूँ। मुझे लगता है ये लोग 1917 की अक्टूबर क्रांति, 1949 की चीनी क्रांति और अंत में 11 सितम्बर की बिन लादेन की क्रांति, जिसने बिना बन्दूक के अमेरिका पर हमला कर दिया, उससे भी शक्ति या प्रेरणा प्राप्त करते हैं। इससे यही प्रमाणित होता है कि हिंसा की सार्थकता सीमित है। चाहे वह राजा वीरेंद्र की बन्दूक हो या प्रचंड की जन सेना की, ज्ञानेन्द्र की हो या बाबूराम की। हिंसा के आधार पर, मैं और जोर देकर कहना चाहूंगा संगठित हिंसा के बल पर परिवर्तन संभव नहीं। यह अलग बात है कि कभी जुलूस और भीड़ भी हिंसा के लिए उतारू हो जाती है। नेपाल के लोकतंत्र की कमजोरी यही है कि हम जनता का चेतना स्तर को ऊपर नहीं उठा पाये। 1990 का जनआंदोलन हिंसा-बल पर नहीं हुआ था। 5 लाख लोग स्वेच्छ से सड़कों पर आये थे।

इस समय लगता है कि हिंसा के बल पर भी लोग जुटते हैं। लेकिन एक सर्वेक्षण ने अभी बताया है कि नेपाल की 73 प्रतिशत जनता आज भी बहुदलीय लोकतंत्र के पक्ष में है। अगर माओवादियों को भी शान्तिपूर्ण तरीके चुनाव में जाने दिया जाये, तो उनका प्रतिशत जो 9 है, बढ़ा भी दें तो 25 होगा लेकिन 73 प्रतिशत तो दूसरी तरफ है। इसलिए प्रमुख समस्या औपनिवेशिक काल से चली आ रही है और वह है राज्यतंत्र का सीमित उपयोग।

इसके साथ एक दूसरी दुर्घटना घटी है। वह है - तथाकथित निजीकरण, उदारीकरण और व्यापारीकरण। जब सोवियत संघ का विघटन हुआ तब जोरदार ढंग से कहा गया कि समाजवाद का पतन हो गया, इसका श्राद्ध किया जाय। और, ठीक उसी समय नेपाल में अमेरिका और ब्रिटेन में पढ़कर आये युवकों को अर्थ मंत्री बना दिया गया। इसके फलस्वरूप नेपाल में भारत के मनमोहन सिंह से बढ़कर ध नमोहन सिंह अर्थ मंत्री बन गये। सारे अर्थतंत्र को बिना सोच-समझ के निजीकरण की तरफ धकेल दिया गया। लेकिन अब इस निजीकरण के अभिशाप को कुछ समझने की कोशिश हो रही है। अब हमें पता चल रहा है कि निजीकरण का प्रहार स्वास्थ्य, शिक्षा, परिवहन सब पर पड़ा है। निजीकरण से क्या हुआ? गाड़ियां तो बहुत आयीं लेकिन परिवहन प्रणाली समाप्त हो गयी। हैदराबाद, जिसको साइबराबाद भी कहा जाता है, में हमें एक छात्र ने बताया कि यहां पर निजी बसें नहीं चलती हैं। बिल क्लिंटन भी यहीं आता है और बिल गेट्स भी और यहां प्राइवेट बसें नहीं चलती हैं। काठमांडू में बहुदलीय व्यवस्था आने के बाद सारा सरकारी सिस्टम समाप्त। साझा यातायात, भक्तपुर यातायात समाप्त, सरकारी अस्पताल और स्कूल समाप्त! यह सब निजीकरण का फल है।

एक तरफ निजीकरण का हमला, जिसके खिलाफ दक्षिण एशिया लगा हुआ है लेकिन दूसरी तरफ नेतृत्व की औपनिवेशिक मानसिकता, जिसके कारण राज्य कमजोर हुआ। लेकिन यह केवल नेपाल में कमजोर नहीं हुआ है, श्रीलंका के भी यही हाल हैं - प्रभाकरन ने मुश्किल कर रखा है। भारत में पीडब्ल्यूजी और एमसीसी की बात छोड़ दीजिए।

बिहार में अकेले शहाबुद्दीन ने तीन जिलों में राज चला रखा है। वह सांसद भी हैं और अपराधी भी। सीपीआई (एमएल) के नेता चंद्रशेखर के हत्या का वह आरोपी है। गुस्सा आयेगा, तो वह अपनी जनता पार्टी बना लेगा। जब तक मदद मिलती है, तभी तक वह लालू जी के साथ है। दक्षिण एशिया का राज्यतंत्र पूर्व औपनिवेशिक काल से विभाजित रहा है। केवल क्रांतिकारी माओवादी या पीडबल्यूजी नहीं, अपराधी शहाबुद्दीन और प्रभाकरन जैसे लोगों ने भी राज्य को जब चाहा, तब आपनी मर्जी से चलाया है।

एक बात और कहना चाहता हूँ। कि राज्य को चुनौतियाँ केवल कथित क्रांतिकारियों से नहीं मिली हैं। अपराधियों से भी मिली हैं। अभी हाल में बिहार विधानसभा के 9 विधायकों ने अपना सम्बन्ध अपराधी गिरोह से बताया है। इन लोगों ने बिना हिचक के दावे के साथ कहा है कि बिहार में किसी आपराधिक गिरोह की सहायता के बिना कोई व्यक्ति सरकार नहीं बना सकता। आप लोगों ने लालू यादव और नीतीश के गुणों के बारे में सुना होगा, जो इस तरह की शक्तियों को परिचालित करते हैं। मैं कहना चाहूँगा कि हमारे सामने यह बिल्कुल नयी तरह की चुनौती है। हम चाहे अपने आपको कम्युनिस्ट कहें, नियो कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट या गांधीवादी कहें, जब तक हम इस हिंसा की राजनीति से अपने आपको अलग नहीं करते, दुनिया के इस हिस्से में लोकतंत्र को बचा पाना मुश्किल है। हर क्रिया के विपरीत एक प्रतिक्रिया होती है और न्यूटन का यह सिद्धांत आज भी लागू होता है। यदि आप हिंसक विद्रोह से राज्य के खिलाफ लड़ना चाहते हैं और अपने आपको क्रांतिकारी मानते हैं तो आपने 20 वीं सदी का पाठ नहीं सीखा। लोकतंत्र के खत्म होने के कई कारण हैं। एक तरफ नेताओं का आत्मकेन्द्रित होना, तो दूसरी तरफ नवउदारवाद की विजय या पूंजीवाद की विश्व-व्यापी विजय, राजनीतिक दलों के भीतर की तानाशाही प्रवृत्ति, आंतरिक जनवाद की कमी। यही सब कारण हैं। इनके बारे में किसी को दुविधा में नहीं रहना चाहिए। विश्व बाजार प्रणाली और राजा ज्ञानेन्द्र की अतिशयोक्तिपूर्ण महत्वाकांक्षा - यह भी है हमारे देश नेपाल के लोकतंत्र

को समाप्त करने के लिए जिम्मेवार। सबसे अधिक जिम्मेवार हिंसा है। वह चाहे लाल हिंसा हो या श्वेत।

इसलिए यदि हम नेपाल के लोकतंत्र को लेकर चिन्तित हैं, तो सामाजिक परिवर्तन का एजेंडा तय करना चाहिए। जाति और जन जातियों की समस्याओं का हल क्या हो? शिक्षा का और एड्स का हल क्या है, यह दूसरी बात है। हम सबको यह निर्णय करना चाहिए कि हम नई शुरूआत करना चाहते हैं। संगठित हिंसा एक झटके के साथ नहीं, तो धीरे-धीरे दूर हो। यह राज्य ने शुरू किया या माओवादियों ने, इस पर मैं नहीं बोलूँगा। मैं भारत के प्रधानमंत्री अटल बिहारी की भाषा में नहीं बोलूँगा कि गोधरा किसने शुरू किया। मैं कहता हूँ कि जिसने भी शुरू किया, मैं क्षमा मांगता हूँ। उसके लिए मैं जिम्मेवार हूँ। जिसने भी शुरू किया हो, गिरिजा प्रसाद कोईराला ने किया हो या बाबूराम ने। मैंने मान लिया कि नेपाली कांग्रेस ने शुरू किया और उसका जवाब हमने गिरिजा प्रसाद कोईराला को दे दिया, उनकी पार्टी को छोड़ दिया। अब तो रास्ते में आइये।

## माओवादियों को मुख्य धारा में लाना होगा

हरि रोका

नेपाल में गलतियां कहां, कब और किसने की, इन सबके बारे में हम एकमत हैं। कांग्रेस की नजर में यह एमाले की गलती है या दरबार की। दरबार के नजर में एमाले की, एमाले की नजर में कांग्रेस ने गलती की। इन सबकी की नजर में सबसे ज्यादा दोषी माओवादी हैं।

अब हमें इन आरोप-प्रत्यारोपों से बाहर आकर सोचना चाहिए। राजा एक्टिव हो गये हैं और सार्वजनिक रूप से आम सभा में व्यस्त नजर आ रहे हैं। इतना ही नहीं, वह पुराने राजा की नकल करते हुए हर जिले में जाने का माहौल बना रहे हैं। जो लोकतांत्रिक व्यवस्था थी, उसे अब एकतंत्रीय शासन में बदलने का काम हो चुका है।

इसलिए अब इसको ठीक करने के लिए क्या किया जाय, यह बात महत्वपूर्ण है। प्रदीप गिरी की पार्टी को शेर बहादुर देउबा को ही प्रधानमंत्री बनाये रखना था। एमाले का मानना है कृष्ण प्रसाद भट्टराई की तरह संविधान की धारा 128 के तहत उसकी सरकार बननी चाहिए या लोकतांत्रिक दायरे में जो पार्टियां थीं, उनकी सरकार बननी चाहिए थी। नेपाली कांग्रेस का मानना है कि जिस संसद का विघटन हुआ है, उसको जीवित करना चाहिए। ये तीन पार्टियां जब तक तीन दिशाओं में चलेंगी, तब तक राजा को अपना काम करने में आसानी है।

हमारी कुछ कमजोरियां हैं। एक, हम राष्ट्रीय स्तर पर एकजुट नहीं हैं। दलित, महिला, जनजाति, भाषा और क्षेत्र के स्तर पर हम एकजुट

नहीं है। यह पुरानी अवस्था आज तक विद्यमान है। अब राजनीतिक दलों को आगे बढ़ने से पहले इन सबको कैसे एकीकृत किया जाय? राजनीति की मुख्य धारा में इनको कैसे शामिल किया जाय और इनको आर्थिक-सामाजिक संरचना के दायरे में कैसे लाया जाय, इस पर सोचना चाहिए। यह वही बात है जो माओवादी आज कह रहे हैं। उनका सकारात्मक पक्ष यही है कि दलितों का आंदोलन पहले किसी ने नहीं किया। उनको छूत मानने की प्रक्रिया कभी नहीं चली, इसलिए उन लोगों ने जो माहौल बनाया उसका असर उन पर पड़ा। इस समय हमारा समाज विभाजित है और इसके मिश्रित होने की संभावनाएं अधिक हैं। माओवादी जनयुद्ध के हिसाब से देखें तो यह एक सकारात्मक बात है। मुझे लगता है, यह बात कुछ उग्र वामपंथी या अराजकतावादी भी लग सकती है लेकिन समाज को आगे बढ़ाने के लिए इससे हमें सहयोग मिलेगा। महिलाओं, जन जातियों, भाषा और तराई के जो सवाल उठ रहे हैं, इन सबके लिए यह सहयोगी होगा। आने वाले समय में दो बातें होनी चाहिए। मैं माओवादियों के हिंसात्मक आन्दोलन से सहमति नहीं रखता। अमरीका और ब्रिटेन में पढ़े-लिखे लोगों को लाकर नेपाल को अमरीका या ब्रिटेन बनाने वाली नेपाली कांग्रेस की नीतियों से भी मेरी सहमति नहीं है। कभी कांग्रेस या दरबार की तरफ झुकाव के साथ राष्ट्र-राज्य की बात करने वाली पार्टी एमाले के साथ भी सहमत नहीं हो सकता। लेकिन मुझे लगता है, इस समय समाज के प्रति सभी की जिम्मेवारी बनती है। भूमंडलीकरण, नवउदारवाद और साम्राज्यवाद के खिलाफ जो एशियाई सामाजिक मंच का नारा है, इससे भी हमें सीख लेनी चाहिए।

नेपाल में समाज से पार्टी को अलग रखने का प्रयास किया गया और संघर्षशील लोगों को जनता से अलग कर दिया गया। मैं भी एक कार्यकर्ता हूँ, 25-26 बरस मैंने राजनीतिक क्षेत्र में काम किया। गत 12 वर्षों में 7 साल एमाले पार्टी का जिला सचिव रहा और काम किया। लेकिन मुझे लगता है, हमने कुछ गलतियां कीं। अमरीका- ब्रिटेन के लोगों ने जो किया, उसको ही अपनी नीति मानने लगे। कांग्रेस ने यही किया और आज हम गड्ढे में हैं। जो कल व्यापार करते थे, आज भी वे व्यापारी हैं। उन लोगों ने जो रास्ता सुझाया, वह कर्पोरेट वर्ल्ड का

रास्ता है, इसलिए इसके खिलाफ सबको एकजुट होना जरूरी है। सभी राजनीतिक पार्टियों को यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में सभी लोगों को समाहित करने के लिए नहीं सोचकर हमने गलती की। इसलिए अब सबको लेकर आगे बढ़ने के लिए सोचना चाहिए।

दूसरी बात, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर में हमें व्यापार करना है या नहीं? अगर करना है, तो कैसे? टेक्नोलॉजी बाहर से लायें या नहीं? हमें समाज को विस्थापित करने की हद तक बाहर की चीजें आयात नहीं करनी चाहिए। इन बातों को ध्यान में रखकर हमें सम्बन्ध बनाना चाहिए। लेकिन नवउदारवाद और आईएमएफ, वर्ल्ड बैंक, एडीबी जैसी संस्थाओं से जो नीतियां बनके आती हैं, इनके कारण देश की क्या हालत हो जाती है, इस बारे में सोचने की जरूरत है। इसलिए विदेश नीति के बारे में भी हमें अभी से सोचना चाहिए।

तीसरी बात, माओवादी क्या है और दरबार क्या है? इनको लेकर सभी राष्ट्रीय पार्टियों को स्पष्ट होना जरूरी है। मुझे लगता है, अब न तो गिरिजा प्रसाद जी का कहा होना है - संसद का पुर्नस्थापन - और न एमाले का कहा होना है - संसदीय पार्टियों की सरकार - और न ही शेर बहादुर देउबा जी की बात - जिसमें वे खुद प्रधानमंत्री होना चाहते हैं। अब जो संभावना बचती है, उसमें माओवादियों को भी मेन स्ट्रीम में - एक जगह - लाना है। एक स्पष्ट नीति के आधार पर संयुक्त सरकार बननी चाहिए। सभी उपेक्षित समुदायों को केन्द्र में रखना चाहिए और आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों के क्षेत्र में उनकी पहुंच को सुरक्षित करना चाहिए। इसका आधार व्यापक होना चाहिए। इससे हमारी राजनीति आगे बढ़ सकती है और देश को एक नई दिशा मिल सकती है। इसके लिए सभी को आत्म समीक्षा करने की जरूरत है।

लेकिन बात आती है कि आगे आन्दोलन का नेतृत्व कौन करेगा, तो स्वभाविक ढंग से यह राजनीतिक पार्टियों को करना चाहिए। साथ ही जो उनसे बाहर हैं, आप-हम जैसे लोगों को भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका

निभानी है। क्योंकि देश के जो हालात हैं, उसके लिए केवल एमाले, कांग्रेस और राष्ट्रीय प्रजातंत्र पार्टी (राप्रपा) जिम्मेवार नहीं हैं, हम भी हैं। यदि हम समाज को आगे की तरफ ले जाना चाहते हैं, तो हमको आन्दोलित होना चाहिए। हमारे पास हथियार नहीं हैं लेकिन समाज को चेतनशील बनाने के लिए हथियार जरूरी नहीं हैं। राजनीतिक रूप में यदि आन्दोलन संचालित होता है, तो उसका प्रभाव लोगों में पड़ता है। आज जो समस्या हमारे सामने खड़ी है, उसका हल तो केवल राजनीतिक रूप से आगे बढ़कर ही हो सकता है।

यदि हम सब तैयार हैं, तो एक गणतंत्रात्मक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था - ऐसी लोकतांत्रिक व्यवस्था, जिसमें हर तरह के लोग साथ रह सकें - कायम की जा सकती है। ऐसा मेरा विश्वास है।



## लोकतंत्र का नया मॉडल चाहिए!

विमलेंद्र निधि

नेपाल में वर्ष 1950 राणा शासन को हटाकर लोकतंत्र बहाल हुआ था। 1960 में वह समाप्त हो गया। उसके बाद नेपाली जनता ने 30 साल तक आन्दोलन किया और 1990 में जन आन्दोलन सफल हुआ और फिर से बहुदलीय लोकतांत्रिक प्रणाली स्थापित हुई। हाल में 4 अक्टूबर, 2002 को राजा ने जो घोषणा की है, उससे लोकतंत्र और संविधान दोनों खतरे में पड़ गये हैं। 1990 में जिन लोगों ने आन्दोलन किया, वे और जिन्होंने नहीं किया, वे भी राष्ट्रीय प्रजातंत्र पार्टी बनाकर पिछले 12 सालों में इस बहुदलीय व्यवस्था के प्रति प्रतिबद्ध दिखते रहे। और, इसे लोकतंत्र ही माना गया। मुझे लगता है, इस बहुदलीय व्यवस्था के भीतर गरीबी, क्षेत्रीय असमानता और भाषा के सवालों को समग्र स्तर पर हल नहीं किया गया, हालांकि वह आन्दोलन गौरवमयी आन्दोलन था। उस आन्दोलन को हम लोकतंत्र प्राप्ति का आन्दोलन मानते हैं।

नेपाल में जो समस्याएं दिख रही हैं, वे राज्य के चरित्र के रूपांतरण से जुड़ी हैं। उसमें निचले तबके के लोगों की सहभागिता की बात है। यह सब नहीं हो पाया। फिर भी हम कह सकते हैं कि वहां पर कल तक एक लोकतांत्रिक प्रणाली थी। इस बीच पिछले सात वर्षों से माओवादियों ने हिंसात्मक आंदोलन का संचालन कर रखा था। इस बात पर पूर्व वक्ताओं में सहमति दिखती है कि हम किसी भी तरह की हिंसा के पक्ष में नहीं हैं। लेकिन यहां मुख्य सवाल यह उठता है कि

माओवादी हिंसा के माध्यम से कैसी राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं? इस बारे में भी तमाम लोकतांत्रिक शक्तियों का ध्यान देना चाहिए। नेपाली जनता 4 अक्टूबर, 2002 से पहले अपने द्वारा निर्मित संविधान दायरे में लोकतांत्रिक अभ्यास कर रही थी। इस संविधान में राजा को कार्यकारिणी के अधिकार न देकर सिर्फ राष्ट्रीय एकता के प्रतीक के रूप में मान्य किया गया था। यह बहुदलीय व्यवस्था थी, इसमें निर्वाचन प्रणाली और संसदीय व्यवस्था थी। यही प्रमुख बातें थीं इस संविधान में। और, हम इसे लोकतंत्र मानते हैं। माओवादी इसे स्वीकार नहीं करते हैं। वे कहते हैं, मोनार्की नहीं चाहिए और संसदीय व्यवस्था भी नहीं चाहिए।

इस समय संसदीय व्यवस्था खत्म हो गयी है। यह मानकर ही यहां बहस चल रही है। अन्य जगहों पर भी बहस चल रही है कि यह जो संसदीय लोकतंत्र का ब्रिटिश मॉडल है, यह फेल हो गया है। यह समाज की वास्तविक समस्याओं को समझने में असफल रहा है। इसलिए किसी नये लोकतांत्रिक मॉडल के बारे में हमें सोचना चाहिए। इसको लेकर कुछ चिंतक और विद्वान लोग विचार-विमर्श कर रहे हैं। संसदीय लोकतंत्र के कई मॉडल हैं। इसलिए इसमें काफी बहस हो सकती है।

जन प्रतिनिधिमूलक व्यवस्था अमेरिका में अलग तरह की है। ब्रिटेन में अलग है और भारत में अलग है। अन्य कई देश हैं, जहां राजतंत्र के साथ लोकतंत्र है। ऐसे भी देश हैं, जिन्होंने ब्रिटेन की महारानी को राष्ट्र प्रमुख के रूप में स्वीकार किया है। विश्व में कई तरह की लोकतांत्रिक प्रणालियां व संसदीय व्यवस्थाएं हैं। इसलिए नेपाल ने जो संसदीय बहुदलीय प्रणाली स्वीकार की, यह समाज की सभी समस्याओं को हल करने में सक्षम नहीं है, नया समाज बनाने के लिए इस व्यवस्था की कोई प्रासंगिकता नहीं है, बहुदलीय व्यवस्था और संसदीय प्रणाली अब उपयोगी नहीं है, हमें जल्दबाजी में ऐसे निष्कर्ष पर नहीं पहुंचना चाहिए, ऐसा मेरा मानना है।

इस समय तक 1990 की आंदोलनकारी शक्तियां बहुदलीय लोकतंत्र और संवैधानिक आंदोलन में विश्वास करती आयी हैं। ये राजनीतिक दल इस मूल मान्यता को स्वीकार कर राजनीति कर रहे थे।

इसके दायरे में रहकर नेपाल की असमानता को समाप्त किया जा सकता है, ऐसा विश्वास था। लेकिन माओवादी न तो संविधान को स्वीकारते हैं, न संसदीय प्रणाली को। न निर्वाचन प्रणाली को और न ही दलीय व्यवस्था को। ये लोग सर्वसत्तावादी, एकदलीय निरंकुश तंत्र खड़ा करना चाहते हैं। माओवादी नेता प्रचंड - बाबूराम भट्टराई - के लेखों और उनकी केन्द्रीय कमिटी के दस्तावेजों में स्पष्ट ढंग से कहा गया है कि नेपाल में राजतंत्र नहीं चाहिए। अगर वे लोग केवल यही बात करते तो ठीक था कि राजा के बदले राष्ट्रपति चाहिए। लेकिन क्या वे नेपाल में लोकतांत्रिक प्रणाली को बचाये रखना चाहते हैं? क्या वे चाहते हैं कि यहां संसदीय प्रणाली रहे, चुनावी प्रणाली रहे, मानवाधिकार और मौलिक अधिकार रहे? वे इन सबको बदलकर नयी प्रणाली चाहते हैं। उनको विश्वास है कि यह सब उनकी जनवादी व्यवस्था में होगा। लेकिन हमारी मान्यता है कि उसमें लोकतंत्र नहीं रहेगा, मानवाधिकार और निर्वाचन प्रणाली नहीं रहेगी।

4 अक्टूबर से पहले भी हमारे लोकतंत्र को खतरा था क्योंकि संवैधानिक राजतंत्र, बहुदलीय लोकतंत्र, निर्वाचन प्रणाली और संसदीय व्यवस्था पर लगातार आक्रमण हो रहा था। लेकिन इसके बीच नेपाली जनता, राजा, बहुदलीय व्यवस्था के पक्षधर और संसदवादी, सभी लोग चाहते थे कि कोई निष्कर्ष निकले और इसका समाधान हो जाये। यह समाधान तब भी नहीं हुआ और आज भी बाकी है। लेकिन अचानक नेपाल में 4 अक्टूबर, 2002 के बाद परिवर्तन हुआ है। अब राजा सक्रिय हो गये हैं। वे अपना साईन बोर्ड लेकर आगे आ गये हैं। दूसरी शक्ति माओवादी हैं, जो राजा को भी समाप्त करना चाहते हैं और संसदीय, बहुदलीय एवं निर्वाचन प्रणाली को भी समाप्त करना चाहते हैं। एक तीसरी शक्ति है, जिसको 73 प्रतिशत नेपाली जनता का समर्थन प्राप्त है। वह है संसदीय और दलीय लोकतंत्र में विश्वास करने वाली शक्ति। यह शक्ति नेपाल में विद्यमान है। इन्ही तीनों के बीच में द्वंद्व चल रहा है।

तीनों के बीच जो द्वंद्व है, इसका समाधान एक साथ होगा या चरणबद्ध होगा? इस विषय पर हमें सोचना चाहिए। यदि हम नेपाल के

लोकतंत्र का उपचार करना चाहते हैं तो माओवादियों के साथ का द्वंद्व, दलगत राजनीति को स्वीकारनेवालों के साथ का द्वंद्व और निरंकुश बनने की राजा की प्रक्रिया का द्वंद्व, क्या इन सबको एक साथ हल किया जा सकता है? या चरणबद्ध रूप में किया जाना चाहिए? इस पर हमें गंभीरता से विचार करना चाहिए। मुझे लगता है, यह सब एक साथ हो जायेगा ऐसा सोचना बुरा नहीं है लेकिन यह संभव नहीं दिखता। इसलिए इस समय संसदीय, दलीय और निर्वाचन प्रणाली को जो खतरा राजा की ओर से दिख रहा है, इसको सबसे पहले हल करना चाहिए। यह हमारे एजेंडे की प्राथमिकता में रहना चाहिए। दूसरे चरण में माओवादी समस्या का समाधान करना चाहिए। यही एक रास्ता है, जिससे नेपाल का लोकतंत्र सही रास्ते पर आ सकता है।

मैं छह बिन्दुओं में अपनी बात रखना चाहूंगा। राजा शाही घोषणा के माध्यम से कहना चाहते हैं कि सार्वभौम सत्ता उनमें निहित है। लेकिन संविधान में ऐसा नहीं है और लोकतांत्रिक परिभाषा में यह बात स्वीकार नहीं होती। संविधान कहता है कि नेपाल की सार्वभौम सत्ता जनता में निहित है। हमारी राजनीतिक धारणा भी यही है।

दूसरी बात, राजा कार्यकारिणी का अधिकार भी अपने आप में निहित मानते हैं और शासकीय अधिकार भी। जबकि लोकतंत्र में यह कैबिनेट का अधिकार है। यह जनता के सरोकार और अधिकार की विजय भी है।

तीसरी बात, वह कहते हैं कि प्रधानमंत्री ने क्या किया, ठीक या गलत, उसको जांचने का अधिकार भी उनका है, जनता का नहीं। निर्वाचित प्रधानमंत्री की क्षमता और अक्षमता का परीक्षण जनता या तो निर्वाचन के माध्यम से करती है या संसद में विश्वास-मत से। अगर जरूरत पड़ी तो न्यायालय के माध्यम से इसका हल होता है। राजा ने यह अधिकार भी अपने हाथ में होने की घोषणा कर दी।

चौथी बात, उन्होंने कहा कि वह किसी भी समय एक को हटाकर दूसरे व्यक्ति को प्रधानमंत्री नियुक्त कर सकते हैं। हम सब जानते हैं कि संसदीय व्यवस्था में जनता अपना प्रधानमंत्री खुद चुनती है। जनता का

जो अधिकार है, उसके बारे में 'लेकिन और तब भी' की भाषा से काम नहीं चल सकता। इसका कोई अर्थ नहीं निकलता कि शेर बहादुर ने यह किया, माधव नेपाल ने यह किया, गिरिजा प्रसाद कोइराला ने यह किया। उन्होंने यह किया या वह किया कह कर बच नहीं सकते। अगर हम ऐसा करते हैं, तो जनता के अधिकारों से संपन्न प्रणाली के बारे में हमारी समझ गलत है। मुझे लगता है, लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजा प्रधानमंत्री को नियुक्त नहीं करता। इसके लिए निरंकुश पंचायती व्यवस्था ही काफी थी। शेर बहादुर देउबा निर्वाचित प्रधानमंत्री हैं। उनको बदलने का अधिकार राजा या उनके किसी अन्य निकाय को नहीं है। लेकिन राजा ने शेर बहादुर देउबा को पदमुक्त कर उनकी जगह लोकेन्द्र बहादुर चंद को प्रधानमंत्री नियुक्त कर यह कह दिया कि अब जनता के पास कोई अधिकार नहीं है। यह जनता के अधिकारों का हनन है। यह बात हमें अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए।

पांचवीं बात, राजा ने कहा है कि वह बहुदलीय लोकतंत्र और संवैधानिक राजतंत्र के ऊपर कोई आंच नहीं आने देंगे। इन तमाम बातों का विश्लेषण कर हम समझ सकते हैं कि उनकी बातें झूठी हैं।

अंतिम और छठी बात, सारी नौकरशाही को उन्होंने निर्देश दिया है - मैं जो कहूँ, जो कहूँगा, वही मानो और किसी भी तत्व से विचलित मत होओ। इससे हमें पता चलता है कि राजा प्रशासन और शाही सेना को प्रत्यक्ष रूप से निर्देशित करने की हैसियत रखते हैं। इतना ही नहीं, कैबिनेट, जो दैनिक प्रशासन-संचालन करने और फैसले लेने का काम करती है, वह भी राजा के निर्देशन से चलेगी।

इसीलिए नेपाली कांग्रेस (प्रजातांत्रिक) और अन्य सभी पार्टियों ने कहा कि राजा का यह कदम असंवैधानिक और अलोकतांत्रिक है।

इन बातों को कहने का तात्पर्य यह है कि 1990 के जन आंदोलन से प्राप्त अधिकार व संविधान और अन्य उपलब्धियाँ तथा न्याय प्रणाली को पहली प्राथमिकता में रखना चाहिए या नहीं? यदि नेपाल में लोकतंत्र चाहिए और प्राप्त अधिकारों की रक्षा करनी है, तो राजा द्वारा किये गये 4 अक्टूबर के शाही घोषणा को वापस लेने की मांग हम सब लोगों का कॉमन एजेंडा बननी चाहिए।

वह वापस हो जाएगा, तो उसके बाद सरकार कैसी बने, सर्वदलीय हो, चुनाव हो, माओवादियों के साथ बातचीत संभव है या नहीं, वार्ता से समाधान निकलता है कि नहीं, ये सारे सवाल उठेंगे। अगर हम यह मानते हैं कि जब तक माओवादियों के साथ वार्ता और समझदारी नहीं हो जाती, तब तक समाधान संभव नहीं, तो यह जो क्षत-विक्षत लोकतंत्र है, इसको क्या इस समय ऐसे ही लावारिस छोड़ देना है?

मुझे लगता है यदि देश को इस संकट से बाहर लाना है, तो हमें समस्याओं का प्राथमिकीकरण करना होगा। और, प्राथमिकता क्रम में सबसे पहली बात यही हो सकती है कि राजा अपनी शाही घोषणा वापस लें। सभी राजनीतिक दल, बुद्धिजीवी, लोकतंत्र प्रेमी और शुभेच्छु अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के लोग इसमें एकजुटता जाहिर करें। इससे नेपाल का लोकतंत्र पुनः स्वस्थ ढंग से अग्रगामी परिवर्तन की दिशा में, नयी दुनिया के निर्माण की दिशा में बढ़ने के लिए रास्ता बना सकेगा।

## सहभागिता में है संकट का समाधान

चित्रलेखा यादव

यदि हम नेपाल के लोकतंत्र के बारे में बात करना चाहते हैं तो विभेद और अवसर के बारे में बात करनी चाहिए। माओवादियों ने जो बातें उठाई हैं, उनके कारण युवाओं का आकर्षण इस आंदोलन की तरफ हुआ है। ये बातें विभेद और अवसर से जुड़ी हुई हैं। मुझे मार्टिन लूथर किंग की एक बात याद आती है। वह कहते हैं - 'मैं एक सपना देखता हूँ कि एक दिन मेरे देश के भीतर गरीब बच्चों को उनके रंग के आधार पर नहीं, उनकी क्षमता और चरित्र के आधार पर न्याय मिलेगा।' नेपाल के संदर्भ में हम बात करें, तो हमें बहुभाषिकता और बहुजाति को लेकर बात करनी चाहिए। मुझे लगता है, आज बहुसंख्यक जनता राजनीति के मूल प्रवाह से अपने आप को बाहर पाती है, उसमें खुद को समाहित नहीं पाती। इसलिए जैसे मार्टिन लूथर किंग ने रंगभेद की बात की थी, वैसे ही हमारे यहां जाति के आधार पर विभेद नहीं होना चाहिए। केवल विशेषताओं के आधार पर अंतर करना चाहिए कि देश के लिए कौन क्या कर सकता है या किस रूप में योगदान कर सकता है? व्यक्ति की क्षमता के आधार पर अवसर मिलना चाहिए। जब अवसर नहीं मिलता तब व्यक्ति को महसूस होता है कि उसके साथ भेदभाव किया गया है। इस बात पर हमें ध्यान देना चाहिए। भेदभाव से व्यक्ति में निराशा पैदा होती है। आपको लगता है कि आपको अलग रखा जा रहा है।

अवसर के बारे में अब्राहम लिंकन की एक महत्वपूर्ण बात याद आती है - 'एक समय मैं मैं दास था, फिर मैं कामदार बना दिया गया और मुझे मालूम है कि गरीब के बेटे के भाग्य में ऐसा ही होता है लेकिन किसी भी इंसान के भविष्य को तय करता है अवसर।' इसलिए लोकतंत्र में पर्याप्त अवसर का सृजन करना चाहिए। लेकिन हमारे यहां यह नहीं हो सका। इसी संदर्भ में दूसरी बात विली ब्रांड ने कही है कि 'एक राजनीतिक लड़ाई जीतना आसान है लेकिन भूख, गरीबी और निरक्षरता के खिलाफ लड़ाई जीतना बहुत कठिन काम है।'

नेपाल के संदर्भ में भी मुझे यही सही लगता है। चुनाव होते हैं। नेतागण हारते हैं, जीतते हैं। जीतने वालों के ऊपर ज्यादा जिम्मेवारी आती है, हारने वालों पर कम और नेपाली जनता तो अभी भी अपने नेताओं को देवता मानती है। ये लोग सभी समस्याओं का समाधान कर सकते हैं, इस तरह की धारणा हमारे देश में है। जब हम लोकतंत्र की बात करते हैं, तब देखना चाहिए कि सामाजिक न्याय की स्थिति क्या है। जब हम सामाजिक रूपांतरण की बात करते हैं तो हमें सामाजिक न्याय और समान अवसर प्रदान करना होगा। अन्यथा सामाजिक परिवर्तन संभव नहीं है। आज भी नेपाल की समस्या यही है कि वहां लोकतंत्र आया लेकिन आम आदमी को क्या मिला? लोकतंत्र आया लेकिन शिक्षा की स्थिति देखिए। प्राइवेट और सरकारी स्कूलों की स्थिति में बहुत अंतर है। नेपाल की स्थिति महाभारत जैसी दिखाई देती है। महाभारत में भीष्म पितामह कहते हैं, 'मुझे मालूम है सत्य क्या है, लेकिन मैं सत्य के पक्ष में खड़ा हो नहीं सकता। मुझे पता है असत्य क्या है फिर भी मैं असत्य के पक्ष में खड़ा हूँ।' बाद में वे कहते हैं - 'यह मेरी बाध्यता है।' इसलिए मेरा मानना है कि लोकतंत्र में नेताओं को किसी भी चीज के लिए बाध्य नहीं होना चाहिए। जनता की आवश्यकता क्या है? यह जब नहीं सोचेंगे तो भूमंडलीकरण, उदारीकरण और विश्व-बाजार आपकी बाध्यता हो जाते हैं और आप जनता की समस्याओं को किनारे कर देते हैं। बाद में आप चाहते भी हैं, तो समस्या का समाधान करना संभव नहीं होता। मैं आप लोगों से भी एक बात पूछना चाहती हूँ - क्या इस समय

नेपाल में लोकतंत्र है? संवैधानिक राजतंत्र और लोकतंत्र की बात जब आती है, तो कुछ लोग कह रहे हैं राजा तो प्रतिबद्ध है लोकतंत्र के प्रति, राजा ने खुद भी यह बात कही है। लेकिन आपकी और हमारी बात क्या है, यह स्पष्ट होनी चाहिए। हम लोग अक्सर राजनीतिक पार्टियों और नेताओं को दोष देते हैं लेकिन इस समय नेपाल की स्थिति ऐसी नहीं है कि उनको दोष देने से हल निकल जाये। नेपाल में राजनीतिक अस्थिरता है, इसलिए सभी लोगों को गंभीर होने की जरूरत है। आज आर्थिक संकट की बात चल रही है। राज्य के असफल होने की बात हो रही है।

इस समय हमारा दायित्व क्या है? एक तरफ बहुदलीय व्यवस्था कायम है और संवैधानिक राजतंत्र भी। सार्वभौम सत्ता जनता में निहित है, ऐसा कहने वालों की भी कमी नहीं है। इस मामले में हमारे बीच ठोस किस्म की एकता और समझदारी की जरूरत है। अगर ऐसा नहीं होता है, तो यह हमारे लिए दुर्भाग्यपूर्ण होगा। हमारे देश और समाज में जितनी भी भेदभावपूर्ण नीतियां हैं उनके निराकरण के लिए सहमति होना जरूरी है। हम मानव हैं और मानव निर्मित समस्याओं को हमें ईमानदारीपूर्वक उठाना चाहिए। अक्सर कहा जाता है कि लोकतंत्र सहभागिता से सफल हो सकता है और जनसहभागिता की बात की जाती है। लेकिन जब तक महिला और पुरुष की बात नहीं करेंगे, कैसे चलेगा? हम लोग अगर नेपाल की पार्टियों की संरचना देखें, तो यह स्पष्ट हो जाता है। महिलाओं की योग्यता और क्षमता को महत्वपूर्ण नहीं माना जाता बल्कि हाशिए पर रख दिया जाता है, कम कर दिया जाता है। भूतपूर्व ब्रिटिश प्रधानमंत्री मार्ग्रेट थैचर ने महिलाओं के बारे में जो बात कही है, मुझे बहुत पसंद है। इससे आप सहमत भी होंगे क्योंकि यह सच है - 'यदि आप कुछ कहने का काम करना चाहते हैं तो पुरुषों को दीजिए और यदि कुछ करना चाहते हैं तो महिला को दीजिए।'

बात नई संरचना की हो रही है इसलिए महिलाओं को जिम्मेदारियां दी जानी चाहिए। इस समय जो सरकार है, उसमें सिर्फ एक महिला को सहायक मंत्री बनाया गया है। क्या यही लोकतंत्र है? मैं कहना चाहूंगी कि 'यदि लोकतंत्र में कोई भी कमजोर व्यक्ति अपने अधिकारों से

वंचित है, तो इसका अर्थ हम सब अपने अधिकारों से वंचित हैं।' लोकतंत्र में सभी की सहभागिता होनी चाहिए। सबको अपना योगदान देने का अवसर मिलना चाहिए।

बहुदलीय व्यवस्था में पार्टियों के बीच मतभेद होते हैं। अंतर्पार्टी मतभेद होते हैं लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि सभी गलतियां पार्टियों और नेताओं ने की और किसी ने कोई गलती नहीं की। अगर हम ऐसा सोचते हैं तो जिस अवस्था से हम गुजर रहे हैं, उससे भी मुश्किल हालात में हम पहुंचेंगे। इस वक्त समझदारी की जरूरत है। एक मिलन बिन्दु, जहां पर सहमति हो सके, की जरूरत है। नेपाल के वर्तमान संकट के समाधान के लिए समझदारी, सकारात्मक समझदारी का मंच बनाना चाहिए।

## विमर्श

**रेणु राजभंडारी:** मेरे गुरु प्रदीप भाई साहब हैं। उन्होंने मुझे 10-11 साल की उम्र में रोजा लक्जमबर्ग कौन है, लेनिन कौन हैं, यह सब पढ़ने को प्रेरित किया। हम लोग एक ही गांव के हैं। उस समय की कुछ बातें तो अभी तक याद हैं। लेकिन उनकी कही कई बातें अब याद नहीं। इसलिए मैं राजनीति से इतर के हालात क्या हैं, उस पर कुछ कहना चाहूंगी। मैं सामुदायिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में काम करने वाली महिला हूँ। महिलाओं के स्वास्थ्य के अधिकार के लिए काम करती हूँ लेकिन मुझे लगता है कि सामुदायिक स्वास्थ्य की बात किये बगैर महिलाओं के स्वास्थ्य के बारे में बात नहीं हो सकती।

हम लोगों, सामाजिक क्षेत्र और खासकर महिलाओं के बीच काम करने वाले लोगों में सदा से यह सवाल उठता रहा है कि क्या सच में नेपाल में लोकतंत्र है? मुझे 1991 में ही लगा था कि यह लोकतंत्र नहीं टिक सकता क्योंकि उसमें हम लोगों का प्रतिनिधित्व नहीं था। अंतरिम सरकार का गठन हुआ, कहां था महिलाओं का प्रतिनिधित्व? उसके बाद की संसदीय समितियां देखिए। कहां है प्रतिनिधित्व? क्या ये इंसान नहीं हैं? आप न्याय नहीं करते हैं लेकिन सोचते हैं कि आप ही राज करते रहेंगे। यह कैसे संभव है? और, आप यह भी चाहते हैं कि कोई विरोध न करे। विरोध तो होगा ही। इसी विरोध के कारण इस समय हम सबको मुश्किल हो रहा है। हम लोग 1990 के आंदोलन में मेडिकल प्रोफेशनल की हैसियत से शामिल हुए थे। इस समय जब लोकतंत्र धराशायी है, हमें भी दुख हो रहा है। लेकिन जैसा बोओगे, वैसा ही फलेगा न। हमारे नेताओं ने बीज ही ऐसे बोये।

सभी वर्गों को नहीं समेटा गया, सभी समूहों को नहीं समेटा गया। इसके फलस्वरूप हमें यह स्थिति देखनी पड़ रही है। दूसरी बात, यदि हम 1990 के बाद की राजनीति को देखें तो, वह कभी भी आम आदमी को केन्द्र में रखकर नहीं बनायी गयी। नेता केन्द्रित राजनीति अधिक हुई है। उसमें जनता के अधिकार को सुरक्षित रखने की चिंता नहीं थी। चिंता इस बात की रही कि कैसे नेताओं के अधिकारों को

सुरक्षित करें - चाहे सांसदों का वेतन बढ़ाने की बात हो या पजेरो लाने की। इसके चलते हम जैसे सामाजिक क्षेत्र में काम करने वाले लोगों के लिए कठिनाइयां बढ़ीं। इसका प्रत्यक्ष शिकार मैं खुद बनी। मैं एक जिला चिकित्साधिकारी थी ललितपुर में। मैं पढ़ने के लिए गयी तो एक पार्टी की सरकार थी, वापस आई तो दूसरी पार्टी की सरकार आ गयी। मेरे डीएचओ बनने के आठ महीने बाद दूसरी सरकार बनी और मेरे बारे में कहा गया कि 'यह तो फलां पार्टी से संबंध रखती है। उस पार्टी के समर्थक होने का आरोप लगाकर मेरा तबादला कर दिया गया। मैंने उसी दिन इस्तीफा दे दिया। एक कर्मचारी बनने के लिए यहां एमाले या कांग्रेस सदस्य बनने की परिस्थिति पैदा की जाती है। इससे बेहतर होगा सामाजिक क्षेत्र में काम करना, यही सोचकर मैंने नौकरी छोड़ दी।

मुझे लगता है यदि हम वर्तमान राजनीतिक समस्या का समाधान चाहते हैं, तो गत 12 सालों में क्या हुआ और हमने क्या किया, इसका विश्लेषण करना जरूरी है। गत 12 सालों में जितना हो सकता था, उसकी अपेक्षा बहुत कम काम हुआ। बिल्कुल नहीं हुआ, ऐसा मैं नहीं मानती। जहां तक महिलाओं के सवाल है, 12 सालों में जो उपहार हमें मिला, वह है बलात्कार। जिला अदालत में केस रिट करने गये तो वह भी नहीं हुआ। अदालत से भी न्याय नहीं मिला। क्योंकि राजनीतिक पार्टियां ऐसी प्रवृत्तियों का संरक्षण देती रहीं। मैं एक समुदाय के बीच काम करती हूँ, वहां जाकर पता चलता है कि बलात्कार किस पार्टी के आदमी ने किया और महिला किस पार्टी से संबंध रखती है। दूसरी बात, किसी भी पार्टी ने लाखों की संख्या में नेपाली महिलाओं को वेश्यावृत्ति में धकेल दिये जाने के बारे में कुछ नहीं कहा।

असंगठित क्षेत्र में श्रम करने वाले लोगों की बात करें तो नेपाल, भारत और हांगकांग किसी भी जगह महिलाओं की समस्या के बारे में एक भी दल ने बात नहीं उठाई है। इसे विश्लेषण का विषय तक नहीं समझते। अपने घोषणा पत्र में तो कई पार्टियों ने लिखा है लेकिन व्यवहार में किसी ने भी गत 12 सालों में कुछ नहीं किया। किसी भी पार्टी ने किसी भी महिला की बच्चेदानी गिरने के विषय में बात नहीं उठाई। जबकि हमारे देश की 30 प्रतिशत महिलाएं इस समस्या से

पीड़ित हैं। महिलाओं के स्वास्थ्य के बारे में कभी भी यह बात नहीं आयी। स्वास्थ्य में बात चली भी तो एड्स की, क्योंकि इसमें पैसा आता है। हमने कभी मलेरिया को लेकर बात नहीं की, क्योंकि इससे बड़े आदमी, पैसे वाले आदमी नहीं मरते। गांव के लोग और आम जनता मरती है। मेनिन्जाइटिस से गांव में हजारों लोग मर रहे हैं। इसको लेकर हमारी स्वास्थ्य नीति कभी नहीं बनी। 12 साल से पहले राजा का शासन था लेकिन इन 12 सालों में तो जनता के लोगों ने शासन किया था।

इस शासन में 51 प्रतिशत लोग किनारे कर दिये गये। ऐसी स्थिति में और कोई सामाजिक न्याय की बात करता है और उनको अधिकार दिलाने की बात करता है, तो जनता वहां जाती है। तभी तो शुरू हुआ माओवादी आंदोलन। मैं सल्यान की रहने वाली हूँ। आप लोग वहां जायेंगे तो आपको भी इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मिल जायेगा। उदयपुर जायेंगे तो भी मिल जायेगा। ऐसा कहने पर आप सबको लग रहा होगा कि मैं माओवादी तो नहीं? मैं कोई वादी नहीं हूँ। मैं महिलावादी हूँ। उन लोगों के बीच महिलाओं के बारे में बोलने वाले, उनकी समस्याओं को सुनने वाले लोग हैं इसलिए लोगों का आकर्षण बढ़ा, ऐसा कहने पर आपको हंसी आ सकती है। लेकिन वहां पर बच्चों की बात सुनी गयी। ऐसे हुई उनकी शुरूआत। समूहों में काम करने वाली महिलाओं में चार लोगों को हम खो चुके हैं। सेना ने उनको मार दिया। इसका हमें कितना दर्द और गुस्सा है? मैं उदयपुर और नुवाकोट की दो-दो महिलाओं के मारे जाने की बात कर रही हूँ। माओवादी आंदोलन सामाजिक न्याय की बात लेकर उठा लेकिन वह भी एक पुरुषप्रधान आंदोलन है। वहां भी पुरुष की श्रेष्ठता ही कायम की जा रही है। मैं यहां उपस्थित सभी पुरुषों को नारीवादी पुरुष मानती हूँ। लेकिन अगर हमारी लीडरशिप को देखें तो वह पितृसत्तात्मक सोच से ग्रसित नजर आयेगी। इसे पुरुषप्रधान कहना ही ठीक होगा। माओवादी आंदोलन भी पुरुष प्रधान है लेकिन अन्य पार्टियों की अपेक्षा उनके केन्द्रिय नेतृत्व में महिलाएं अधिक हैं। और, उनकी सेना में महिलाओं की संख्या अधिक है, क्योंकि लड़ने के लिए महिलाओं को आगे रखने में आसानी होती है। किसी भी जगह पर पुरुषप्रधान सोच के साथ कोई काम शुरू होता है तो हिंसा जरूर होती है।

यह हिंसा माओवादियों ने शुरू किया, राजा ने किया, गिरिजा बाबू ने किया, प्रचण्ड - बाबूराम - ने किया, जिसने भी किया, लेकिन हिंसा जारी है। और, दोहरी हिंसा की मार महिलाओं को झेलनी पड़ रही है। राजा की सेना मारे या माओवादी सेना, विधवा तो महिला ही हो रही है। फेमिनाइजेशन ऑफ पोवर्टी हो रहा है। अकेली औरत को घर का सारा बोझ ढोना पड़ रहा है। महिलाओं के ऊपर गरीबी का भार बढ़ रहा है। इसके कारण प्रवासन बढ़ा है। एक तरफ मजबूर होकर लोगों को घर छोड़ना पड़ रहा है, दूसरी तरफ प्रवासन के संबंध में कोई उपयुक्त नीति नहीं है। पुरुष मानसिकता यह है कि पैर छूने और घूँघट रखने से महिलाएं सुरक्षित हो जाती हैं। घर के भीतर चाहे जैसी भी हैं, वे सुरक्षित हैं। नेपाल की महिलाएं किसी भी देश में नहीं जा सकती हैं। नीतिगत रूप से महिलाएं नहीं जा सकती हैं क्योंकि उनको सताया जाता है। जो इस समय गयी हुई हैं, उनकी समस्याओं को देखने की तो बात ही नहीं होती।

मैं आप लोगों के सामने दो घटनाएं रखना चाहती हूँ। उदयपुर की एक 52 वर्षीय महिला को नंगा कर राज की सेना के दो जवानों ने 7 घंटे तक तलाशी ली। वह भी उसकी 16 वर्षीय जवान लड़की के सामने। वे कह रहे थे - तेरे शरीर के भीतर बम है, निचले शरीर में। वह औरत हमें अपना पेट दिखाती है, जो अब कमजोर हो गया है, बम रखा है कहकर जहां टार्च से मारा गया। उस महिला ने हमसे कहा - 'बच्चो, तुम लोग आये हो, ठीक है लेकिन मैं तो माओवादियों को मिलना चाहती हूँ। उनकी बंदूक लेकर गांव में घुसकर उन आर्मी वालों को मारना चाहती हूँ।'

दूसरा उदाहरण सल्यान का है। एक महिला के पति शिक्षक संगठन में क्रियाशील थे। वह जनमोर्चा पार्टी के नजदीक थे। किसी काम से नेपालगंज जाते समय आर्मी ने पकड़कर 7 महीने तक जेल में रख दिया। 7 महीने बाद लौटकर घर आये, तो दूसरे दिन माओवादियों ने आकर कहा - 'हमारे आंदोलन में शामिल हो जाओ।' महिला रोई कि मेरे पति को मत ले जाओ। चार-पांच दिन बाद माओवादी आये। पत्नी और बेटे के सामने उस शिक्षक के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। आज हालत

यह है कि उस महिला का बेटा माओवादी शब्द सुनते ही बेहोश हो जाता है। दोनों तरफ से जो हिंसा हो रही है, उसका यही परिणाम है। हम न तो हिंसा का समर्थन कर सकते हैं, न उसको प्रोत्साहन दे सकते हैं। उसकी शुरुआत जहां कहीं से भी हुई हो, हिंसा की राजनीति कभी आगे नहीं बढ़ सकती और बढ़नी नहीं चाहिए। हम लोग राजनीतिक पार्टियों पर दोष लगाते हैं। इसलिए कि वे प्रतिनिधित्व करते हैं। हमलोगों ने इनको प्रतिनिधित्व करने के लिए भेजा है। इसलिए राजनीतिक पार्टियों को जिम्मेवार होना चाहिए। या तो वे कहें कि वे इसके लिए जिम्मेवार नहीं हैं या नेतृत्व छोड़ देना चाहिए। दूसरा कोई उपाय नहीं है। मैं तो इस स्थिति में यही आह्वान करना चाहती हूँ कि यदि राजनीतिक पार्टियां समस्या का समाधान नहीं कर सकती हैं, तो उनको नेतृत्व की भूमिका छोड़ देनी चाहिए। हमारे साथ हमारे कई भारतीय मित्र हैं, हम एक नागरिक मंच बनाकर शांति वार्ता क्यों शुरू नहीं कर सकते? हम क्यों लाचार और बेबस राजनीतिक पार्टियों पर निर्भर रहें?

**गरिमा शाह:** नेपाल में जब तक शांति-स्थापना नहीं होती, तब तक लोकतंत्र खतरे में है। इस तरह से नेपाल का लोकतंत्र विकास नहीं कर सकता। इस समय 1990 के जनांदोलन की उपलब्धियों को हम खो रहे हैं।

90 के दशक में एक नकारात्मक किस्म का संस्कार विकसित हुआ। वह है भाई-भतीजावाद, अवसरवाद, भ्रष्टाचार और व्यक्ति केन्द्रित राजनीति। सभी राजनीतिज्ञों की सोच के केंद्र में यही था कि कैसे उनकी अपनी राजनीतिक ऊंचाई बढ़े, कैसे उनके मित्र, घर-परिवार के लोगों को अवसर मिले? नेपाली जनता को दो जून की रोटी मिल रही है या नहीं, बच्चों को पोषणयुक्त भोजन मिल रहा है या नहीं, शिक्षा पूरी करने के बाद जीविकोपार्जन के लिए रोजगार मिल रहा है या नहीं, इन सब बातों पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। इसलिए बेरोजगारी चरम पर पहुंच गयी। ठीक ऐसे ही समय में उग्र वामपंथी राजनीति में क्रियाशील लोगों ने, देश के भीतर अपनी आवश्यकता की चीजों की कमी से गुस्साये युवाओं की भावनाओं को अपनी ओर आकर्षित किया। उन्होंने कहा कि हम सब कुछ देंगे, देश में आमूल परिवर्तन कर इसकी काया

पलट कर सकते हैं। युवा लोग जल्दी सपना देखते हैं, जैसा कि अमूमन होता है, इसके लिए वे आहुति देने के लिए भी तैयार रहते हैं। मुझे कहने की जरूरत नहीं कि नेपाल के माओवादी आंदोलन में इस समय 16 से 25 वर्ष तक के युवा ही सबसे अधिक जुड़े हैं। यदि इस आंदोलन में युवा शक्ति शामिल नहीं होती, तो यह आंदोलन उभार पर नहीं होता। हम लोग नेपाल के लोकतंत्र को बचाने और वापस लाने की बात कर रहे हैं, तब शायद इसकी जरूरत नहीं होती। हमारे देश का यही दुर्भाग्य है। यहां शासन करने वाली पार्टियां, उसमें भी सबसे अधिक समय तक सत्ता-संचालन करने वाली पार्टी अगर इस तरह की नीतियां और योजनाएं लागू करती, जिससे देश का अर्थतंत्र मजबूत होता और युवाओं को देश के विकास में उचित अवसर मिलता तो युवाओं को हथियार बनाकर प्रयोग करने वाले माओवादी भी सफल नहीं होते।

हमारे समाज में असमानताएं हैं। यह केवल महिलाओं के स्तर पर नहीं है - गरीब और अमीर, किसान और पूंजीपति, बड़ी और छोटी जात और सफेद कपड़े पहनकर राजनीति करने वाले लोग व सामाजिक कार्यकर्ताओं के बीच भी असमानता है। कुछ ऐसे सफेदपोश हैं कि उनके बीच मैले कपड़े पहने हुए लोग बैठ भी नहीं सकते! यदि हम वास्तविक समानता चाहते हैं तो यह खुद से शुरू होनी चाहिए। यदि हम ईमानदारी, समर्पण और त्याग की बात करते हैं, तो वह खुद से शुरू करनी चाहिए। यदि नहीं करते हैं, तो नेपाल में और भी भयंकर स्थिति होगी।

नेपाल की राजनीतिक पार्टियां अलग-अलग दिशाओं में सोच रही हैं लेकिन मेरा मानना है कि 1990 के जनांदोलन की उपलब्धियों को बचाने के सवाल पर नेपाल के राजनीतिक दलों के बीच कोई विवाद नहीं है। और, राजा ने गत 4 अक्टूबर, 2002 को जो शाही घोषणा की, उसको खारिज किया जाना चाहिए, इस बात पर भी किसी पार्टी का अलग मत नहीं है। राजा के निरंकुश बनने की ख्वाहिश का विरोध होना चाहिए, इस बात पर कोई मतभेद नहीं है। मुझे विश्वास है और नेपाली युवाओं को भी विश्वास है कि नेपाली जनता अपने अधिकार के लिए सड़कों पर आयेगी और जीतेगी।



**योगेन्द्र शाही:** नेपाल के लोकतंत्र के बारे में बात करते समय इसकी पृष्ठभूमि पर बात करनी चाहिए। किसी भी देश में राजनीतिक पार्टियों का दो-तीन तरह से विकास होता है। एक प्रक्रिया है जो नीचे से जन्म नहीं लेती। उसमें किसी पार्टी को ऊपर से कलम कर स्थापित किया जाता है। दूसरी प्रक्रिया में कोई पार्टी अपनी जमीन पर जन्म लेकर विकसित होती है। नेपाल के संदर्भ में पार्टियों का विकास कैसे हुआ, यह ध्यान में रखना चाहिए।

हमारी ऐतिहासिक विरासत क्या है? हमें विरासत में खूनी-मारकाट और षडयंत्र, एक दूसरे की हत्या करने की परंपरा मिली है। यह परंपरा अनेक चरणों से होकर दरबार हत्याकांड तक आ पहुंची। इस परिप्रेक्ष्य में हमारे समाज में लोकतंत्र कैसे विकसित हुआ, इसका विश्लेषण होना चाहिए। इस समय के घटनाक्रम को भी इसी संदर्भ में देखना चाहिए।

दूसरा परिप्रेक्ष्य है नेपाल के लोकतंत्र पर पश्चिमी प्रभाव व उसका विकास। हमारे समाज का चरित्र और पश्चिमी समाज के चरित्र में क्या अंतर है? उसके बारे में हमारा कोई स्पष्ट विचार या विश्लेषण नहीं है। हमारा समाज विविधतापूर्ण है। उन लोगों का समाज समानताओं वाला है। इस विविधतापूर्ण समाज में कैसे उनके मूल्यों को लागू किया जाय, इस पर सोचा नहीं गया। फलस्वरूप महिलाओं, भाषा-बोली और जनजाति के सवाल अनुत्तरित रह गये। ग्रासरूट स्तर पर लोकतंत्र के किस मॉडल को विकसित करना है, यह स्पष्ट नहीं हुआ।

तीसरी बात, नेपाल एक भूपरिवेष्टित देश है। दो विशाल राष्ट्रों के बीच में है और उसकी राजनीति हमेशा बाहर से निर्देशित होती रही है। हमारे देश में चाहे वह 1949 का लोकतंत्र हो, चाहे वह रणबहादुर के समय की बात हो या 1960 में लोकतंत्र की हत्या की या 1990 में लोकतंत्र की पुनर्बहाली की प्रक्रिया हो, सबमें बाहर से निर्देशित रहने की प्रक्रिया स्पष्ट दिखायी देती है। स्वीट्जरलैंड, उत्तर कोरिया और जापान छोटे देश हैं, जो बड़ी शक्तियों को चुनौती देकर विकास कर सकते हैं। इस बात से हमें सीख लेनी चाहिए थी। लेकिन हमने उस तरह की नीति का निर्माण कभी नहीं किया। जैसे, 1950 में भारत के

साथ समझौता हुआ कि भारतीय सैनिक सुरक्षा-सहयोगी के लिए नेपाल में प्रवेश कर सकते हैं। वह गलत समझौता था।

उपरोक्त तीन बातों को ध्यान में रखकर हमें अपने लोकतंत्र के मॉडल के बारे में बात करनी चाहिए, विश्लेषण करना चाहिए, ऐसा मुझे लगता है। जिसने गलती की, उसको स्वीकारना चाहिए। नेपाल और युगांडा में एक साथ लोकतंत्र आया। उन लोगों ने सभी तरह के आंतरिक व्यवस्थापन की प्रक्रिया में परिवर्तन किया। जैसे, स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा से चयन, अर्थतंत्र की अलग योजनाएं, औद्योगिक क्षेत्र का विकास आदि। इसीलिए आज जहां-जहां लोकतंत्र आया, उन देशों में लोकतंत्र का विकास कैसे होना चाहिए, इसके उदाहरण के रूप में युगांडा का नाम लिया जाता है। हो सकता है कि नेपाल की संरचना में मूलभूत परिवर्तन नहीं किया जा सकता था लेकिन जितना कर सकते थे, हमने उतना भी नहीं किया।

इस समय हमारे विकास के सारे सूचकांक नकारात्मक दिशा में चल रहे हैं, व्यापार घाटे में है और यही हाल अन्य क्षेत्रों में भी है। शिक्षा के क्षेत्र में भी हालात खराब हैं। छात्रों के भविष्य के साथ खिलवाड़ किया जा रहा है। माओवादी आंदोलन का जन्म कहां से हुआ, इसका जवाब हमें यहीं ढूंढना होगा। माओवादी जो कर रहे हैं, गलत कर रहे हैं। हिंसा किसी भी बात का हल नहीं हो सकती। मार्टिन लूथर किंग ने कहा है - 'झूठ, झूठ को समाप्त नहीं कर सकता। अंधेरा, अंधेरे को समाप्त नहीं कर सकता, केवल उजाला ही कर सकता है।' मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि हम हिंसा से हिंसा को समाप्त करना चाह रहे हैं, तो वह संभव नहीं है। यह कभी भी संभव नहीं हो सकता। इसके लिए जनता के बीच में रहकर, जनता का आंदोलन जरूरी है। शायद एशियाई सामाज मंच जैसा। ऐसे आंदोलन की हमें जरूरत है। यही नेपाली जनता का विकल्प हो सकता है।

राजा कहते हैं कि वे लोकतंत्र के प्रति प्रतिबद्ध हैं। लेकिन लोकतंत्र के कुछ मूल्य और मान्यताएं होती हैं। राजनीतिक पार्टियों ने अच्छा काम नहीं किया, ऐसा भी कहा जाता है। तीसरी बात, राजा और

राजनीतिक पार्टियों के बीच जो समस्या है, वह प्रविधि से जुड़ी समस्या है। उसको व्यक्तिगत भी माना जाता है। चौथी बात, अगर वे समाधान चाहते हैं तो उन्हें राजनीतिक पार्टियों के साथ बातचीत करनी चाहिए। लेकिन उन्होंने कुंभ मेले जैसा माहौल बनाकर कहा कि देश में प्रतिनिधि मूलकता की भी आवश्यकता है। वे अंतराष्ट्रीय समुदाय, भारत और चीन के लिए भी एक भ्रम खड़ा करते हैं। इसमें खुद पश्चिम के लोग और भारतीय शासक वर्ग भी सक्रिय हैं और वे राजा को प्रोत्साहित कर रहे हैं। 1960 में ऐसा हुआ, विश्वेश्वर प्रसाद कोईराला के आत्म वृत्तांत से यह पता चलता है। नेपाल की राजनीति में अपना स्वार्थ साधने के लिए, माओवादी आंदोलन के नाम पर नेपाल को राजनीतिक खेल का मैदान बनाने के लिए पश्चिमी शक्तियां सक्रिय हैं। पूरे दक्षिण एशिया से लेकर तिब्बत तक अपनी पकड़ मजबूत कर पश्चिमी शक्तियां यहां हावी होना चाहती हैं। भारतीय और चीनियों का भी अपना-अपना स्वार्थ हो सकता है। नेपाल को अंतराष्ट्रीय राजनीतिक खेल का मैदान बनाने का षड्यंत्र हो रहा है। जब हम नेपाल के लोकतंत्र की बात कर रहे हैं, तो इन सब बातों पर भी ध्यान देना चाहिए।

राजा ने विराटनगर में लोकतंत्र के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दोहराई, लेकिन अंत में उन्होंने कहा कि कौन रहेगा और कौन नहीं, इसका फैसला इतिहास करेगा। इस बात से लगता है कि राजा अपनी महत्वाकांक्षा पर सवार होकर आगे आ रहे हैं। कुछ लोगों का जमघट लगाकर खुद सत्ता चलाने की सोच रहे हैं। इसके खिलाफ युवा शक्ति संघर्ष करेगी। लेकिन पुरानी पीढ़ी का अनुभव हमें चाहिए। नेपाल की नई पीढ़ी को यह ऐतिहासिक जिम्मेवारी पूरी करनी चाहिए।

**गोपाल शिवाकोटी चिंतन :** बहस कुछ मुद्दों पर केन्द्रित हो। आज देश में माओवादियों की जनशक्ति और राजा की शक्ति का विकास हुआ है। बंदूक चलानेवाले माओवादियों को देकर हम इतिहास के हाथों बच नहीं सकते। कांग्रेस ने भी बंदूक उठाई थी, सशस्त्र संघर्ष भी किया था। एमाले के वामदेव जी ने भी हाल में कहा कि यदि राजा अपनी तरह चलना चाहते हैं, तो हम भी बंदूक उठाकर फिर से जंगल जायेंगे।

प्रमुख बात यह है कि नेपाल में परिवर्तन आवश्यक है। माओवादियों ने जो किया वह ठीक है या गलत, इस बात पर जाने की ज्यादा जरूरत नहीं। उन लोगों ने जो सपना दिखाया, वह नेपाली जन की इच्छा है। वे लोग कल इसको पूरा कर सकते हैं या नहीं, यह अलग बात है। आप लोगों ने कहा कि नेपाल में लोकतंत्र आया और गया। मैं पूछता हूँ - कब आया लोकतंत्र? न तो 1990 में लोकतंत्र आया और न ही हमारा संविधान लोकतांत्रिक था। लोकतंत्र क्या टोनी ब्लेयर की संसदीय व्यवस्था का नाम है? लोकतंत्र और कुछ नहीं हो सकता? क्या आप जो समझते हैं, वही लोकतंत्र है। आप लोग अभी भी अपनी पार्टी के नेता हैं। यदि इस समय राजा ही सब कुछ समाप्त करने की तैयारी कर रहे हैं, आप लोगों का निष्कर्ष भी यही है, तो राजा के खिलाफ आप एकजुट क्यों नहीं हो सकते? लेकिन आप लोग यह नहीं चाहते। संविधान सभा में जाना चाहिए या नहीं, अंतरिम सरकार में जाना चाहिए या नहीं, इन बातों में भी आप लोग एकमत नहीं हैं।

कल अगर सही मायने में माओवादी शक्ति बढ़ेगी, सही चुनाव होगा, तो कांग्रेस और एमाले तथा उनके नेता बाहर हो जायेंगे। क्रांति हो जायेगी, यही डर है। हमारी क्रांति माओवादी न कर दें, इस बात का डर है। मेरा सवाल है कि आप सभी पक्ष के लोग - दरबार के लोग, संसदीय पार्टियां और माओवादी शक्ति मिलकर सर्वदलीय सरकार का निर्माण क्यों नहीं करते? आप स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव-संरचना खड़ी करें। माओवादियों के साथ वार्ता करें। अगर संविधान सभा के लिए भी सहमति बनती है, तो सबको तैयार होना चाहिए। ये राजनीति की मूल बहस की बातें हैं। कम से कम यहां जितने लोग हैं, इस मुद्दे पर सहमत होकर आगे बढ़ सकते हैं या नहीं?

**राजेन्द्र रावल:** हम लोग नेपाल के लोकतंत्र के बारे में भारत में, एशियाई सामाजिक मंच में आकर बात कर रहे हैं। हम अपने लोकतंत्र के विषय पर अपने देश के भीतर क्यों बहस-मुबाहिसा नहीं कर सके? इस के लिए एशियाई सामाजिक मंच का उपयोग करने की स्थिति क्यों आयी? दूसरा प्रश्न, हम जितने लोग नेपाल से यहां आये हैं, बहुत कम

हैं और प्रवासी नेपाली अधिक हैं, तो वे लोग प्रवासी क्यों हुए? गुड्डाचौकी की सीमा पर जाकर हम लोगों को अपने आप से प्रश्न करना चाहिए, भैरवा की सीमा पर जाकर कुछ देर देखिये, ऐसी स्थिति कैसे हुई? लोग क्यों नहीं नेपाल में रह रहे हैं? प्रश्न केवल दो जून की रोटी का नहीं है। अगर ऐसा होता तो हम इसको सामान्य मान लेते, क्योंकि पहले भी लोग आते ही थे। लेकिन आज तो 14 साल से ऊपर का कोई युवा नेपाल के गांवों में नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति कैसे विकसित हुई? हमारी चिंता का मूल विषय यह होना चाहिए।

एक और महत्वपूर्ण बात है। आप लोग इस व्यवस्था की खराबी को किस दृष्टिकोण से देखते हैं और कैसे ठीक करेंगे? इसके लिए संविधान में संशोधन करना है या आप ऐसा नहीं कर सकते? हम लोगों को जनता ने संविधान के साथ खिलवाड़ करने का और उसको समाप्त करने का अधिकार नहीं दिया है। जनमत संग्रह के लिए भी संविधान में ही संशोधन करना पड़ता है। इस समय संविधान में यह व्यवस्था नहीं है।

और अंतिम बात, कर्णाली अंचल के लोगों को खाने के लिए कुछ नहीं है। मुक्त हुए बंधुआ मजदूरों को पेड़ के नीचे रातें गुजारनी पड़ रही हैं, दलितों को सार्वजनिक नलों पर पानी पीने की इजाजत नहीं मिली। यह सब आप लोग क्यों नहीं कर पाये?

**ठाकुर गैरे :** विगत 12 सालों की घटनाओं की प्रकृति का विश्लेषण करते हैं तो पाते हैं कि नेपाल में भ्रष्टाचार, कमिशनखोरी और बेरोजगारी बढ़ी है। आर्थिक क्षेत्र में समस्याएं उत्पन्न हुईं। महिलाओं, जनजातियों और छात्रों की समस्याएं बढ़ीं और जटिल हुईं हैं। इन सभी सवालों से हम लोग सहमत भी हैं।

लेकिन समीक्षा अलग-अलग है। जैसे, प्रदीप जी बहुदलीय व्यवस्था की पुनर्स्थापना के बाद सत्तासीन नेपाली कांग्रेस की सरकार के खिलाफ कई बार अपनी असहमति व्यक्त कर चुके हैं। नेपाल में सांसदों के चढ़ने के लिए 62.75 लाख की पजेरो उपलब्ध करायी गयी। उसके लिए उन्होंने हाथ जोड़कर कहा कि हमने गलती की। इसीलिए हमने

गिरिजा बाबू की पार्टी तोड़ दी, यह भी कहा। इसके भीतर का यथार्थ क्या है? आप इस समय भी उसी पार्टी में हैं, जिसने सांसदों को पजेरो सुविधा दिलाई, सांसदों को खरीदा गया, प्रधानमंत्री को बदलने के लिए, उनको विदेशों में भेजा गया। आप उसी पार्टी में हैं और उस पार्टी के नेता शेर बहादुर हैं, जिन्होंने इस तरह की सारी बातों को प्रोत्साहित किया। इससे पता चलता है कि समीक्षा करने के लिए हम तैयार हैं, लेकिन हम उस रास्ते पर चल नहीं सकते। यह हमारी समस्या है। दूसरी तरफ रेणु बहन ने कहा कि लाचार पार्टियों के कारण नागरिक समाज को आगे बढ़कर सरकार बनानी चाहिए। हम इस बात पर सहमत नहीं हो सकते। कल तक स्वच्छ छवि का राग अलापने वाली माइती नेपाल की अध्यक्ष राजा ज्ञानेन्द्र द्वारा गठित सरकार में मंत्री हैं। और अब देश कहां जा रहा है? मैं यह बात इसलिए कह रहा हूँ कि नागरिक समाज के नाम पर लिफाफों के भीतर गोपनीय ढंग से पैसा भेजने वाले एनजीओ सच्चे नागरिक समाज के प्रतिनिधि नहीं हो सकते। मैं नहीं जानता आपकी संस्था का चलन क्या है? लेकिन ऐसा हो रहा है।

तीसरी बात, इस समय के राजा चाहे जिस लोकतंत्र की बात करें, वह कल के एक व्यापारी हैं। राजा वीरेन्द्र के वंश-विनाश के बाद वह राजा बने हैं। लेकिन 2.50 करोड़ नेपाली जनता मन से उनको राजा स्वीकारने के पक्ष में नहीं है। उनके द्वारा उठाये गये सारे कदम नेपाली जनता के लोकतांत्रिक हितों के खिलाफ हैं। इन सब बातों में हमें सहमत होना चाहिए। एक हद तक हैं भी। वर्तमान परिस्थिति के संदर्भ में जो माओवादी समस्या है, उसको वार्ता से हल करना चाहिए, इस पर हम लोगों की सहमति है ही। इस समय हमारा काम माओवादियों को वार्ता की टेबुल तक लाना और अन्य सहमति के बिन्दुओं चिन्हित करना होना चाहिए। वह नहीं हो पा रहा है।

**गोपाल मणि सिग्देल :** मैं दो परिस्थितियों को केन्द्र में रखकर अपनी बात रखना चाहता हूँ। एक, राजा की जेब में लोकतंत्र के रहने पर और दूसरी, जनता के हाथ में लोकतंत्र रहने पर। सबसे महत्वपूर्ण बात है जब लोकतंत्र जनता के हाथ में होता है, उस समय लोकतंत्र को मजबूत करने का काम जनता और नेताओं के हाथ में होता है। जनता

की ईमानदारी से लोकतंत्र मजबूत होता है। हम लोग राजनीतिक रूप से इतने रुग्ण हो गये कि दूसरी पार्टी के व्यक्ति की शक्यता में भी शामिल नहीं होते थे। एक दूसरे के खिलाफ उग्र होकर लड़ते रहे, कोई सहयोग की भावना नहीं थी, एक दूसरे पर पत्थर फेंके, लोकतंत्र के 12 साल हमने ऐसे ही खर्च कर दिये। इससे लोकतंत्र बदनाम हुआ। नेताओं ने अपने स्वार्थ के लिए कार्यकर्ताओं को उपयोग किया, लेकिन अब यह स्थिति नहीं है। अब स्वार्थ को छोड़कर अपने व्यवहार में सुधार लाना नेताओं के लिए आवश्यक है।

राजा के हाथ में जब लोकतंत्र रहता है तब? प्रदीप भाई साहब ने कहा, हम लोग गलती को सुधारने के लिए प्रतिबद्ध हैं, उससे 'देउबा जी के प्रधानमंत्री होने पर हम खुश हैं' का भाव आता है। गिरिजा बाबू कहते हैं कि विराटनगर में अब जो बोल रहा है वह विष्णु का अवतार नहीं है, वह तो जनता जनार्दन है। संसद की पुनर्स्थापना होनी चाहिए कहकर गिरिजा बाबू पांचवी बार प्रधानमंत्री बनने की फिराक में दिखते हैं। माधव नेपाल कहते हैं जनता को कोई नहीं रोक सकता है। इस भाषा से भी लगता है मैं प्रधानमंत्री हो सकता हूँ। होते-होते माओवादी भी इसी आशय की बात करते हैं, बाबूराम भट्टराई को राजा प्रधानमंत्री मनोनीत कर देंगे और प्रचण्ड भी मान जायेंगे।

इसलिए मेरा सुझाव है कि राजनीतिक दलों को एक सहमति बनानी चाहिए कि नेपाल में लोकतंत्र को मजबूत करने के लिए राजसंस्था आवश्यक है या नहीं। सत्तासीन बन जाये बारूद भले ही, तीखी कलम से इसको पलट देना चाहिए।

**नीना शेर्पा:** विगत की सभी गलतियों के बारे में बात बहुत हो गयी। इस समय जब वैकल्पिक संसार निर्माण की बात संभव कही जा रही है, तो हमें उसके बारे में भी कुछ बातें करनी चाहिए। उसका स्वरूप कैसा हो, हमें उसके बारे में चिन्ता करनी चाहिए।

**नवराज पौडेल:** 1990 में लोकतंत्र की पुनर्स्थापना के बाद बहुमत से जो सरकार बनी, उसने अपनी चरम महत्वाकांक्षा के साथ अगले चुनाव में दो तिहाई बहुमत लाने के उद्घोष के साथ मध्यावधि चुनाव की घोषणा की। लेकिन स्थिति उलट गयी। सबसे बड़ा दल नेकपा

(एमाले) बन गयी। बहुमत किसी के पक्ष में नहीं था उस समय तक। आज के माओवादी भी आलोचनात्मक रूप से इसी संविधान को मानते थे और उस प्रक्रिया में शामिल थे। हंग पार्लियामेंट के बाद अपना कोई ठोस मत राजनीतिक पार्टियां आगे नहीं रख सकीं, इसीलिए समस्याएं पैदा हुईं।

**तिल बहादुर विश्वकर्मा:** नेपाल के संविधान में कोई प्रावधान है नहीं प्रवासी नेपालियों के संबंध में। केवल भारत में 40 लाख से अधिक प्रवासी नेपाली हैं। प्रवासी नेपालियों की वास्तविक संख्या न नेपाल सरकार के पास है न भारत के, उनके लिए नीति की बात तो दूर।

भारत के कई राज्यों में नेपाली रह रहे हैं और देश की वर्तमान समस्या के कारण हजारों की संख्या में आज नेपाली भारत में आ रहे हैं। इस समस्या के बारे में भी हमें बहस करने की जरूरत है। हम प्रवासी नेपालियों की समस्याएं - 1950 की संविधान के अनुरूप व्यवहार न होना, अंतर्राष्ट्रीय हक-अधिकार न मिलना, यह सब हैं। हमारे बारे में नेपाल के संविधान में कुछ भी उल्लेख नहीं है, यह सबसे बड़ी समस्या है। नेपाल के संविधान में किस जानवर को मारना है, किसको नहीं, किस पक्षी को संरक्षण देना है, किसको नहीं, इसका उल्लेख किया हुआ है लेकिन इतनी बड़ी संख्या में विद्यमान प्रवासी नेपालियों के संदर्भ में एक शब्द नहीं लिखा है। यहां पर जिन संघ-संस्थाओं और राजनीतिक पार्टियों के वक्ताओं ने बात रखी, इनमें से किसी ने इस मुद्दे को नहीं उठाया। हम भी उसी दीवार की ईंट हैं, इसलिए हमारे बारे में भी आपको चिंतित होना चाहिए।

**टिका भट्टराई :** जिस दिन स्थानीय निकायों को भंग किया गया, उसी समय हम लोगों ने लोकतंत्र के मूल्यों को समाप्त किया। इस बात को आप लोग स्वीकार करते हैं या नहीं? इससे लोकतंत्र कमजोर हुआ या नहीं?

**रेणु राजभंडारी:** मैं एक-दो बातों को स्पष्ट करना चाहती हूँ। पहली बात, मैं कल भी राजावादी नहीं थी, आज भी नहीं हूँ। ज्ञानेन्द्र को मैं एक हत्यारा ही मानती हूँ। इसीलिए गणतंत्र की लड़ाई में आप

लोग साथ हैं, तो मैं भी साथ हूँ। दूसरी बात, मैं यहां किसी एनजीओ की प्रतिनिधि बनकर नहीं आयी। मैंने नेपाल की राजनीति का नारीवादी दृष्टिकोण यहां रखा और विश्लेषण किया। मैंने कहा कि नेपाल में ऐसा हुआ है। संपूर्णता में सभी राजनीतिक पार्टियों का हाल एक जैसा है। मैंने लाचार, निरीह राजनीतिक पार्टियों के विरोध नहीं किया है बल्कि कहा है कि केवल उनके भरोसे हालात को नहीं छोड़ना चाहिए। अच्छी पार्टियां भी हैं, मैंने सभी को बेकार नहीं कहा। अगर हम नागरिक मंच शुरू करते हैं, तो जो ठीक लोग हैं आयेंगे, टिकेंगे, नहीं तो जायेंगे।

**श्याम श्रेष्ठ (संगोष्ठी के अध्यक्ष) :** सब लोगों की बातें सुनकर लगा कि 4 अक्टूबर को राजा ने जो कदम उठाया, वह गलत है। उसकी तैयारी पहले से चल रही थी। यह प्रतिगमनकारी कदम है। इसका विरोध होना चाहिए। इस बात पर सभी एकमत हैं। इस स्थिति के लिए कमोबेश 12 सालों तक सत्ता-संचालन करने वाली तमाम पार्टियां जिम्मेवार हैं। इनको अपनी गलती के लिए आत्म मंथन करना चाहिए। अपनी समीक्षा करनी चाहिए। पार्टियां तो फिर भी चाहिए ही। सभी लोगों को इस समय एक नारा के साथ आना चाहिए, साझा कार्यक्रम बनाना चाहिए और प्रतिगमन के विरुद्ध लड़ना चाहिए। तीन पार्टियों को तीन दिशाओं में बातें नहीं करनी चाहिए। इन सभी विषयों पर यहां एकमत दिखाई दे रहा है।

देश यथास्थिति के दौर में नहीं चल सकता। अब देश में व्यापक आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के एजेंडे पर बहस होनी चाहिए। उस एजेंडे के रास्ते सहमति बन सकती है और समस्या का हल भी हो सकता है। एक और महत्वपूर्ण बात है, आने वाले समय के लिए हम जो भी बात करें, उसमें माओवादी विद्रोह और प्रतिगमनकारी शक्ति दोनों को संबोधन करना जरूरी है। यदि इसके बिना हम कार्यक्रम तय करेंगे तो वह बेकार हो जायेगा।

अलग-अलग कार्यक्रम और नारा देकर साझा संघर्ष संभव नहीं होता। संघर्ष तो इस समय चल रहा है। एमाले का प्रदर्शन भी संघर्ष था, बसंतपुर का कार्यक्रम भी संघर्ष ही था। अपनी-अपनी क्षमता के आधार पर सभी संघर्ष कर रहे हैं। लेकिन यह निर्णायक नहीं हो सकता

क्योंकि गुणगुने पानी में चावल नहीं पकता। इसके लिए सबको मिलकर एक साझा नारा और कार्यक्रम तय करना होगा। ऐसा होते ही राज दरबार, जिसने प्रतिगमनकारी कदम उठाया है, को पीछे हटने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

सर्वदलीय सरकार का गठन करने की मांग पर जोर देना चाहिए। गोलमेज सम्मेलन, संविधान सभा, जनमत संग्रह और संविधान संशोधन, जो भी करना है, उसके लिए वह सरकार तैयार रहे। इसी एजेंडे से सारी समस्याओं, माओवादी समस्या का भी समाधान हो सकता है। व्यापक सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का एजेंडा भी वहीं से तय हो सकता है। कोई एक पार्टी नेपाल को आगे ले जाने में सक्षम नहीं है। इसीलिए जरूरत है एक सर्वपक्षीय सम्मेलन की। उसका आयोजन राजा नहीं कर सकते। उसके लिए सर्वसम्मति की सर्वदलीय सरकार जरूरी है। वही सर्वपक्षीय सम्मेलन करायेगी, देश में निर्वाचन संपन्न करायेगी और वार्ता भी करेगी। इस स्थिति के बाद देश एक सामान्य अवस्था में आ सकता है।

देश के अग्रगमन के लिए अपनी-अपनी जगह से अपने-अपने एजेंडे तय करने की बजाय एक सामूहिक एजेंडा तय करना ही आज की आवश्यकता है। ऐसा हो सकता है या नहीं? इसके लिए बहस जरूरी है। विगत 12 सालों में इन पार्टियों की एक समस्या रही है कि ये गांवों को भूल गयीं। उपेक्षितों, उत्पीड़ितों को भूल गयीं। ये केन्द्रित हुई तो अपने लिए, भ्रष्ट होने के लिए। प्रमुख समस्या यही है। यह बात आज भी आप लोग स्वीकार नहीं करते हैं, तो समस्या आगे भी बनी रहेगी।

मैं आप लोगों से अपील करना चाहता हूँ कि यह एशियाव्यापी जमघट है और हमारे पास जितना भी समय है, उसका एक सॉलिडेरिटी संयंत्र खड़ा करने में सदुपयोग करें। उसके आधार पर पूरे एशिया में नेपाल के लोकतंत्र के प्रति एकजुटता बनेगी। उससे हमें बल मिलेगा। तभी हम कह सकते हैं कि नेपाल के लोकतंत्र को समाप्त करने की क्षमता किसी में भी नहीं है।

## अस्मिता की राजनीति और लोकतंत्र

विचार

अस्मिता, वैश्वीकरण और भारत में वाम राजनीति

*पुरुषोत्तम अग्रवाल*

भारत में वामपंथी राजनीति और वैश्वीकरण

*डी राजा*

विमर्श

विचार

## अस्मिता, वैश्वीकरण और भारत में वाम राजनीति

पुरुषोत्तम अग्रवाल

अस्मिता की आकांक्षा, भारत में अस्मिता की राजनीति के खतरे और वैश्वीकरण विरोधी आंदोलनों की विभिन्न प्रवृत्तियां, ये तीनों चीजें आपस में जुड़ी हुई हैं। तीन चीजें यानी - अस्मितामूलक आकांक्षाओं की उपेक्षा, अस्मितामूलक आकांक्षाओं का विरूपण, जो लोकतंत्र की मूल धारणा के लिए खतरा और चेतावनी के रूप में सामने आ रहा है, और हमारे देश में वैश्वीकरण विरोधी आंदोलनों के भीतर उभरती समस्याएं।

अभी तक वाम चिंतन में, शास्त्रीय स्तर पर बहिष्कृत लेकिन राजनीतिक स्तर पर स्वीकृत आधार (बेस) और अधिरचना (सुपरस्ट्रक्चर) का पुराना दृष्टिकोण हावी है - सैद्धांतिक रूप से भले न हो, व्यवहारतः सच यही है। वामपंथी ताकतें, कम से कम इस देश में, इसी धारणा का पोषण करती आ रही हैं कि पहले तथाकथित आधार की समस्या सुलझा ली जाये। जहां तक अधिरचना की बात है, इसके लिए कोई खास रणनीति बनाने की जरूरत कतई नहीं है। इस संदर्भ में, उदाहरण के लिए, जाति, पर्यावरण और लैंगिक मुद्दों के प्रति मुख्य वामपंथ का रुख ऐसा ही रहा है।

मैं खुद को वामपंथी आंदोलन का सही छात्र नहीं मानता। मैं सिर्फ प्रेक्षक हूँ और मुझे यह सचमुच चौंकाता है कि इस देश में पर्यावरण का पूरा विमर्श और विकास के लिए वैकल्पिक रणनीति संगठित वामपंथ

की तरफ से नहीं बल्कि वैकल्पिक आंदोलनों और तथाकथित जन अभिक्रमों से आयी है।

लेकिन वामपंथ से इस दावे की अपेक्षा की जाती है हम सिर्फ राजनीतिक परिवर्तन के ही नहीं, बल्कि एक क्रमबद्ध परिवर्तन के पक्षधर हैं। उनका यह तर्क भी है कि हम सिर्फ सत्ता के लिए सत्ता पर कब्जा करने में रुचि नहीं रखते, बल्कि हम तो सामाजिक संबंधों में परिवर्तन, उत्पादन के संबंधों में परिवर्तन और हर तरह के संबंधों में परिवर्तन के लिए राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करना चाहते हैं। फिर भी बुनियादी द्वन्द्व वाम राजनीति के बाहर से आया है। ऐसा क्यों हुआ? यह विचार का विषय है, शोध का विषय है, और स्पष्टतया, 20 साल पहले यह कटु विवाद का भी विषय था।

मुझे वह दिलचस्प विवाद आज भी याद है, जो 20 साल पहले छिड़ी थी। उसमें एक तरफ प्रकाश करात थे, तो दूसरी तरफ गैरसरकारी संस्थाओं (एनजीओ) से जुड़े मित्र। उसमें गैरसरकारी संस्थाओं के आंदोलन की पूरी धारणा, जन अभिक्रमों से जुड़े समस्त विचार, संगठित वामपंथी पार्टियों के दायरे से बाहर का प्रत्येक विचार को प्रतिक्रियावादी कहकर उसकी निंदा की गयी थी और कुछ मामलों को तो सीआईए प्रेरित भी कहा गया था।

मुझे अनिल सद्गोपाल और मध्य प्रदेश में स्कूली शिक्षा और वैकल्पिक पाठ्यक्रम से सम्बंधित उनकी पहलकदमी का मामला तो बिल्कुल स्पष्ट रूप से याद है। उन्हें मध्य प्रदेश माकपा की प्रदेश इकाई ने आधिकारिक रूप से सीआईए एजेंट करार दिया था। मैं खुद उस प्रयास का हिस्सा था, जब हमने यह प्रस्ताव पारित किया था कि अनिल सद्गोपाल और उनकी पहल को सीआईए का धन और प्रेरणा हासिल है। उस उदाहरण का अभिप्राय यह भी है कि मैं भी समस्या का हिस्सा था, समाधान का नहीं। लेकिन मैं सोचता हूँ कि हमें गम्भीरता और पूरी ईमानदारी से सवाल को सुलझाना चाहिए कि आखिर क्यों विश्व के इस खास हिस्से में, दक्षिण एशिया में संस्कृति और जाति जैसी विशेष

सामाजिक निर्मित से जुड़े सवालों को सुलझाने में कम्युनिस्ट पूर्ण रूप से विफल हुए?

मैं नहीं जानता कि इस बीच कोई परिवर्तन हुआ या नहीं, लेकिन कुछ साल पहले तक इस देश की दोनों अग्रणी पार्टियों, भाकपा और माकपा के कार्यक्रम में संस्कृति के मुद्दे का जिक्र सिर्फ एक पाराग्राफ में सिमटा था और वह भी बहुत सामान्य शब्दावली में कि कम्युनिस्ट पार्टी जनता की संस्कृति स्थापित करने की कोशिश करेगी। इतनी सामान्य शब्दावली कि फ्रांस या अमेरिका की कम्युनिस्ट पार्टी भी इसे अपने घोषणा पत्र में बगैर किसी जोड़-घटाव के शामिल कर सकती है।

जैसा कि अक्सर होता है, पद्धति और हकीकत कभी सिद्धांतकारों का इंतजार नहीं करते कि वे आकर उन्हें सूत्रबद्ध करें। उनका अपना एक गतिशास्त्र (डायनामिक्स) होता है, जिसे आप पसंद करें या नापसंद करें। आप जाति के मुद्दे की उपेक्षा करते रह सकते हैं। आप मुद्दे से जुड़ी आवश्यक लेकिन जटिल राजनीति को समझे बगैर, इसे सार्वभौमिक वर्ग विरोध की भारतीय अभिव्यक्ति के रूप में परिभाषित करते रह सकते हैं। और, आप सिर्फ वर्ग सम्बंध और वर्ग संघर्ष पर केंद्रित रहते हुए अपने आपको संतुष्ट भी रख सकते हैं। आप तो जैंडर मूवमेंट (स्त्री मुक्ति का संघर्ष) तक पर यह कहते हुए प्रहार करते रह सकते हैं को वह वर्ग संघर्ष के लिए हानिकारक है। आप पर्यावरण आंदोलन पर यह कहकर प्रहार कर सकते हैं कि वह तो उच्च मध्यम वर्ग की महिलाओं और भद्रजनों का शगल है। लेकिन यथार्थ किसी भी सिद्धांत से आगे निकल जाता है। और, भारतीय वामपंथ के साथ पिछले 10 सालों में ठीक यही हुआ।

भारतीय वामपंथ के पास जाति का कोई ठोस सैद्धांतिक विश्लेषण नहीं है। उसे वास्तविक राजनीति की अनिवार्यता ने तथाकथित मंडलीकरण की ताकतों के समर्थन के लिए मजबूर कर दिया। लेकिन वह हमेशा जाति आधारित आरक्षण या जाति आधारित ध्रुवीकरण के सारे सवाल पर खुद को किंकर्तव्यविमूढ़ पाता रहा है। फिर भी उसे उन्हीं शक्तियों का समर्थन करना है, जिन्हें मंडलीकरण की शक्तियों, कथित अन्य पिछड़ी

जातियों (ओबीसी) की दावेदारी की शक्तियों, कथित दलित आत्माभिव्यक्ति की शक्तियों आदि के रूप में परिभाषित और उल्लेखित किया जाता है, और प्रत्यक्षतः उन शक्तियों को इसमें कोई परेशानी नहीं है, क्योंकि वे खुद को जाति के संदर्भ में व्यक्त कर रही हैं।

समस्या तो वामपंथ के साथ है क्योंकि उसके पास जातिगत आकांक्षाओं को सूत्रबद्ध करने और पहचानने की कोई तकनीक नहीं है। जब ये तथाकथित अस्मितामूलक आकांक्षाएं असली सामाजिक ताकतों के रूप में पहले से विद्यमान हैं, तब आपके पास रणनीतिक दृष्टिकोण होना होगा। आप इन शक्तियों का विरोध नहीं कर सकते। आप गतिशास्त्र को वास्तव में समझे बगैर भी इन ताकतों का समर्थन करने के लिए बाध्य हैं। यह भारतीय वामपंथी आंदोलन की एक स्थायी त्रासदियों में से एक है। आप क्रांति की अगुवाई करने की चर्चा करते रह सकते हैं। लेकिन व्यवहार में आप फिर-फिर कम्युनिस्ट शब्दावली का इस्तेमाल करने के लिए इस या उस बूर्जुवा (मध्यवर्गीय) संगठन के पीछे-पीछे चलते रहते हैं।

ऐतिहासिक विकास-क्रम में या तो आप पर दबाव पड़ता है या आपसे अपेक्षा की जाती है कि आप कांग्रेस या जनता दल जैसे किसी बूर्जुवा संगठन का समर्थन करें और उसके पीछे चलें या फिर भाजपा की तथाकथित सांप्रदायिक ताकतों के साथ समान दूरी बनाये रखें और तब भी वीपी सिंह को भाजपा की मदद से सरकार चलाने में मदद करें। फिर जब चक्र जोर से घूमने लगा, तो आप कांग्रेस का समर्थन करने लिए बाध्य कर दिये गये। आपातकाल के बाद सीपीआई को यह प्रस्ताव पारित करने को विवश होना पड़ा कि आपातकाल का समर्थन कर उसने भूल की।

अटल बिहारी वाजपेई के दूसरी बार शासन में आने के बाद सीपीएम को वस्तुतः यह स्वीकार करने को विवश होना पड़ा कि उसने ज्योति बसु को प्रधानमंत्री बनने की अनुमति न देकर भूल की। तो इस तरह हम भूलों, स्वीकृतियों और दुर्भाग्यवश न-सुधार के निरंतर, सनातन और शाश्वत चक्र में घूमते जा रहे हैं। इसका कारण साधारण है। हम



सांस्कृतिक दृष्टि से विशिष्ट राजनीतिक और सामाजिक मुद्दों को ग्रहण करने में विफल रहे हैं।

लैंगिक शोषण, सैद्धांतिक स्तर पर बेशक वर्गीय शोषण का हिस्सा है लेकिन इसका अपना विशेष गतिशास्त्र है। पर्यावरण का मुद्दा बेशक विकास की सम्पूर्ण रणनीति का हिस्सा है। इसलिए एक बूर्जुआजी - मध्यवर्गीय - का विकास संभव है और जनता का विकास हो सकता है। पर्यावरण के मुद्दे का अपना गतिशास्त्र होता है। वास्तव में इसका अपना अंतःस्वर होता है, जिसका दिलचस्प पहलू यह है कि इसे अक्सर फासिस्ट ताकतों बेहतर तरीके से समझती हैं। जैसा कि हम भागीरथी आंदोलन के मामले में देखते हैं। विश्व हिन्दू परिषद ने टिहरी बांध विरोधी आंदोलन को सचमुच में हाइजेक कर लिया। अब यह विहिप के एजेंडा में शामिल है क्योंकि गंगा का प्रतीकात्मक महत्व उनके कुछ निश्चित प्रतीकों पर आधारित समाज, खास रक्त (सम्बंधों) पर आधारित समुदाय का निर्माण करने की परिकल्पना में फिट बैठता है। यह वामपंथ की एक बड़ी विफलता रही है और कई-कई विभाजन और भ्रम, जो वामपंथी ताकतों और व्यक्तियों के बीच स्पष्ट दिखाई देता है, वही इस खास समस्या की जड़ में है।

दूसरी बात यह कि जब हम मुद्दों की उपेक्षा करते हैं और मुद्दों की हमारी अपनी व्याख्या प्रस्तुत करने में नाकामयाब रहते हैं, तो मुद्दा सामाजिक यथार्थ बन जाता है, राजनीतिक चुनौती बन जाता है और आप कोई न कोई दृष्टिकोण अपनाने को मजबूर होते हैं, जिसे निश्चय ही लोकप्रिय दृष्टिकोण होना होता है। आप वास्तव में एक संतुलित और आलोचनात्मक दृष्टिकोण नहीं अपना सकते। आपके पास सचमुच में तथाकथित मंडल और तथाकथित दलित ताकतों के दायरों के विकल्प के रूप में अपनी कोई जगह या दायरा स्थान नहीं हो पाता।

इसका परिणाम क्या होगा? जातिगत राजनीति के वर्गीय राजनीति में शामिल होने की बजाय वर्गीय राजनीति ही जातिगत राजनीति में शामिल हो जाती है। सैद्धांतिक रूप से मार्क्सवादी पार्टी को इस तरह के जन असंतोष की अभिव्यक्तियों, इस तरह के सांस्कृतिक रूप से खास

आलोड़न और आंदोलनों को वर्ग-विरोध के समग्र परिप्रेक्ष्य में समाहित करने में समर्थ होना चाहिए। हम इस देश में अपने राजनीतिक अनुभवों के आधार पर जानते हैं, खासकर पिछले दस सालों में, कि उल्टा होता आ रहा है।

हम विडम्बना और उदास भाव से यह याद करते हैं कि बिहार विधान सभा में भाकपा माले के 16-17 विधायकों में से 10 या 11 लालू यादव के साथ चले गये। छोटी सी वजह यह कि वे भी यादव जाति के थे। इस प्रकार भाकपा माले के लगभग दो तिहाई विधायक उस नेता के पाले में चले गये, जो स्पष्टतः खुलेआम और पूरी तरह से बेझिझक लहजे में जाति की राजनीति का संचालन करता है।

इसका कारण संस्कृति और अस्मिता के मुद्दों को सुलझाने में पूर्ण विफलता या पूर्ण उदासीनता, अक्षमता और इच्छा शक्ति की कमी में निहित है। इस विफलता का अन्य विनाशकारी परिणाम अस्मिता के विमर्शों का खतरे के रूप में प्रकट हुआ है। मैं व्यक्तिगत रूप से सोचता हूँ कि शोषित अस्मिता की आत्माभिव्यक्तियां, चाहे दलित की हों या अन्य पिछड़ी जातियों की या महिलाओं की, सभी वस्तुतः सामाजिक संबंधों के लोकतांत्रिक पुनर्सूत्रीकरण की न्यायसंगत पुनर्रचना की ओर अभिमुख हैं। इसलिए कोई भी अस्मितागत लामबंदी अपने आप में पूर्ण नहीं हो सकती। इसे एक ज्यादा मानवीय, ज्यादा लोकतांत्रिक और न्यायसंगत समाज-व्यवस्था की ओर बढ़ने का माध्यम बनना चाहिए।

हम अपने निजी अनुभवों से जानते हैं कि अस्मितागत लामबंदियां असल में छोटे, उदासीन और यहां तक कि विरोधी सत्ता के गुटों में प्रकट हो रही हैं, जो राजनीतिक ब्लैकमेलिंग का रसास्वादन करने में नहीं हिचकते और अगर उनके निजी, समूह या समाज के स्वार्थों का बेहतर पोषण हो, तो उन्हें किसी भी ताकत का समर्थन करने में किसी भी तरह की हिचकिचाहट नहीं होती।

हमारी मंडल क्रांति के दो नायक आज इस देश में शासन करनेवाली फासिस्ट सरकार के अभिन्न हिस्से हैं। मेरा इशारा शरद यादव और राम विलास पासवान (अब राजग से अलग हुए) की ओर

है, जिन्हें विद्यार्थी परिषद (छात्र यूनियन) और आरएसएस के छात्रों ने मंडल विवाद के दौरान जेएनयू परिसर में नहीं घुसने दिया था। मंडल हमारे लिए जाति व्यवस्था की जंजीरों को तोड़ने वाला एक प्रयास था। इसलिए हमने मंडल का समर्थन किया।

दुर्भाग्य से इस देश में अस्मितागत लामबंदियां अपने आप में साध्य बनकर उभर रही हैं। अस्मिता के मुद्दे पर लोकतांत्रिक समुदाय बनने की बजाय हम देख रहे हैं कि अस्मितागत लामबंदियां एक खून पर आधारित समुदाय में ढल रही हैं। एक दूसरे को जोड़नेवाला समुदाय मूल्यों और प्रतिबद्धताओं के जरिये नहीं, बल्कि रक्त-सम्बंधों से बनता है। इसलिए यदि आप एक जाति विशेष से संबंधित हैं, तो आपकी स्वाभाविक पार्टी भी वही जो उस जाति के ताने-बाने पर आधारित है। यदि आप जाटव हैं, तो आपको उत्तर प्रदेश में बसपा में शामिल होना और उसका समर्थन करना चाहिए। यदि आप यादव हैं, तो मुलायम सिंह को समर्थन करने के सिवा आप क्या कर सकते हैं? यदि आप एक बनिया हैं, तो जाहिर है कि आपकी स्वाभाविक पसंद भाजपा होनी चाहिए। मूल्यों की राजनीति की जगह खून पर आधारित आदिम अस्मिताएं स्थापित हो गयी हैं।

यह इस देश की लोकतांत्रिक प्रक्रिया पर जबरदस्त प्रहार है। यही अस्मितागत राजनीति का खतरा है। हम जब भी किसी अस्मितागत आंदोलन के समर्थन की बात करें या जब भी अस्मितागत संभाषणों की चर्चा करें या जब भी हम उत्पीड़ितों की अस्मिताओं की लामबंदी और आंदोलन के समर्थन करने या सूत्रबद्ध करने या प्रभावित करने करने की चर्चा करें, तो इसके प्रति सजग रहें।

राजनीतिज्ञ, नौकरशाह, अभिजन, मुखर मध्यवर्ग, ऊर्ध्वगामी मध्य वर्ग अपने साम्प्रदायिक स्वार्थों, अपनी जातियों, लिंग या जाति समूह के स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करते हैं। किसी को भी विभिन्न जातियों और अस्मितामूलक लामबंदियों की चालों और दांवपेच के समर्थन या विरोध करते वक्त बहुत सावधान रहना होगा।

वामपंथियों - वामपंथी व्यक्तियों या वाम दलों - का अपना रास्ता होना चाहिए, सामाजिक और सांस्कृतिक वास्तविकताओं का विश्लेषण करने के लिए अपने औजार होने चाहिए। अन्यथा हम सिर्फ किसी का अनुसरण करने या प्रतिक्रिया व्यक्त करने को विवश होंगे। सच तो यह है कि मैं कभी-कभी महसूस करता हूँ कि वामपंथी इस देश में सबसे बड़े प्रतिक्रियावादी हैं - वे हमेशा प्रतिक्रिया करते हैं।

इस असहायता भाव और दृष्टि बोध की कमी के साथ, हम अपनी तीसरी और अंतिम बात पर आते हैं। बहुत सारे लोग वैश्वीकरण के गतिशास्त्र और संभावित परिणामों को लेकर व्याकुल और परेशान हैं। सच्चाई यह है कि आम आदमी को पहले से ही तथाकथित वैश्वीकरण के परिणाम नजर आ रहे हैं। लोग गुस्से में हैं, परेशान हैं, भ्रमित हैं, लेकिन शायद वे इसको सूत्रबद्ध करने में असमर्थ हैं। इसके अलावा सिद्धांतकार, लेखक, टिप्पणीकार हैं और मीडिया की पूरी जमात है, जो वैश्वीकरण के बारे में अपरिहार्यता का भाव भरने का प्रयास कर रही है।

वैश्वीकरण का मतलब है पश्चिम का और खासकर अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कंपनियों का वर्चस्व। वे जब वैश्वीकरण की बात करते हैं, तो उनका मतलब विचारों का वैश्वीकरण या प्रतिरोध का वैश्वीकरण या श्रम का वैश्वीकरण नहीं है। लेकिन जब हम वैश्वीकरण की बात करें, हमें यह ध्यान में रखना चाहिए। हम भी एक ऐसे वैश्वीकरण का प्रयास कर रहे हैं, जो प्रतिरोध का वैश्वीकरण है।

मैं वैश्वीकरण के जिन सिद्धांतकारों की बात कर रहा हूँ, वे स्पष्टतः वे हैं, जो उपभोक्तावाद के वैश्वीकरण, वस्तुओं के पूंजीकरण, पूंजी के वैश्वीकरण और वर्चस्व के वैश्वीकरण की बात करते हैं। वे यूँ बात करते हैं जैसे यह अपरिहार्य है।

लोगों के लिए ज्यादा से ज्यादा सिर्फ यही बच जाता है कि वे उसमें खुद को एडजस्ट करना - उससे तालमेल बिठाना - सीख लें, अपने लिए इसमें कुछ जगह ढूँढ़ लें क्योंकि यह अपरिहार्य है। यह पूर्वनिर्धारित है और कोई इससे बच नहीं सकता।

संभवतः इसी निराशा की वजह से हम किसी भी ऐसे व्यक्ति का पक्ष लेना चाहते हैं, जो वैश्वीकरण के विरोध में है। आलम यह है भारत के कई अग्रणी वामपंथी बुद्धिजीवियों और बहुत सारे लोगों, जिनकी जनता में बुलंद छवि, सार्वजनिक जीवन में प्रतिष्ठा थी, को वैश्वीकरण विरोध के नाम पर फासिस्ट ताकतों द्वारा गठित मंचों में हिस्सेदारी करते हुए कोई झिझक नहीं हुई। वे यह कहते हुए जनता के बीच गये कि जहां तक वैश्वीकरण का सवाल है, आरएसएस के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने में कोई हर्ज नहीं है।

जरा स्थानीय स्तर पर देखें, क्योंकि जहां तक वैश्वीकरण के विरोध का सवाल है, हमारे समाज में यह अब भी मुख्यतः गैरसरकारी संस्थाओं, स्थानीय अभिक्रमों, जनआंदोलनों द्वारा संचालित है। उसमें से बहुत सारे ऐसे लोग या समूह हैं, जो वैश्वीकरण का विरोध इसलिए नहीं कर रहे कि यह न्याय की भावना को ठेस पहुंचाता है या अमेरिकी वर्चस्व के लिए जमीन तैयार करता है या कि यह आर्थिक और सांस्कृतिक शोषण की स्थिति पैदा करता है, बल्कि इसलिए कि यह राष्ट्रभिमान के खिलाफ है। मुझे लगता है कि यह वैश्वीकरण के विरोध का बहुत ही खतरनाक दृष्टिकोण है।

आप वैश्वीकरण के विरोध के नाम पर पश्चिम की हर चीज का विरोध शुरू करते हैं, संसदीय लोकतंत्र के विरोध की हद तक भी, क्योंकि यह भी तो स्वदेशी नहीं है, भारतीय नहीं है। 'वैलेन्टाइन डे' मनाने वाले निर्दोष युवा मर्दों और औरतों का विरोध और उनसे बर्बरता से पेश आने की हद तक जाते हैं, वह भी सब प्राचीन और शुद्ध भारतीय संस्कृति के नाम पर। यह स्वदेशी का हिस्सा नहीं है। यह तर्क पेश होता है कि यदि आपको प्रेम का ही उत्सव मनाना है, तो आप वसंतोत्सव क्यों नहीं मनाते? कानपुर, लखनऊ और इलाहाबाद जैसे शहरों में यह सब महिलाओं के लिए 'ड्रेस कोड' थोपने तक पहुंच चुका है।

इस तरह की सभी ताकतें स्थानीय स्तर पर वैश्वीकरण विरोध और स्वदेशी के समर्थन में मुखर और सक्रिय भी हैं। यदि आप लखनऊ

में कोई सभा करें, तो मैं आपको आश्वस्त कर सकता हूँ कि जो लड़के लखनऊ विश्वविद्यालय की छात्राओं पर 'ड्रेस कोड' थोप रहे थे, वे ही वैश्वीकरण विरोधी आपकी सभा में बहुत ही उत्साहपूर्वक शामिल होंगे। मैं सोचता हूँ कि यह बहुत गंभीर राजनीतिक खतरा है, जिसके प्रति हमें सावधान होने की जरूरत है। अन्यथा आज से दस साल बाद शास्त्रीय वामपंथी फैशन के अनुरूप हम अपनी गलती स्वीकार करेंगे कि सन् 2001 में हमने एक भारी गलती की थी। कि हम अपने आंदोलन में फासिस्ट तत्वों या प्रतिक्रियावादी और प्रतिगामी प्रवृत्तियों की पैठ के फैलाव को पहचान नहीं पाये और इसका हमें सचमुच में अफसोस है।

मैं इलाहाबाद सहित उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश के कई हिस्सों में चल रहे कई आंदोलनों और स्थानीय पहलकदमियों के बारे में जानता हूँ, जो इस बात की परवाह नहीं करते कि वैश्वीकरण का विरोध करने वालों में कौन किस तरह का समाज बनाना चाहता है। हमारे सामने ऐतिहासिक उदाहरण हैं। ईरान में कम्युनिस्टों ने शाहों के खिलाफ मुल्लाओं का समर्थन किया था क्योंकि शाह उन सभी चीजों - अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कंपनियां, अमेरिकी वर्चस्व, जन जीवन में अश्लीलता का प्रसार आदि-आदि - का प्रतिनिधि और प्रतीक था, जिनसे कम्युनिस्ट ठीक ही घृणा करते थे और घृणा करना ही चाहिए था। लेकिन हमने उन लोगों का समर्थन किया, जिनकी इस्लामी क्रांति की पहली प्रथमिकता न सिर्फ कम्युनिस्टों का खात्मा और निष्कासन थी, बल्कि कठोर अनुशासन वाले अलोकतांत्रिक समाज का निर्माण भी थी।

हमें अपने सहयोगियों के बारे में सावधान होने की जरूरत है और यह तभी संभव है, जब हममें अपने परिप्रेक्ष्य के प्रति स्पष्टता हो। हमारे पास एक सही, गतिशील और अन्योन्यक्रिया से सम्बद्ध परिप्रेक्ष्य हो सकता है, बशर्तें हमारे पास हमारे अपने सांस्कृतिक अनुभवों के जरिये उठाये गये सुस्पष्ट सवाल और समस्याएं हों।

## भारत में वामपंथी राजनीति और वैश्वीकरण

### डी राजा

कम्युनिस्ट होने के नाते मैं हमेशा मानता रहा हूँ कि जनता से सीखना और लोगों का नेतृत्व करना मेरा प्राथमिक कार्य है। हम हमेशा जनता से प्रबुद्ध होने की अपेक्षा नहीं कर सकते। इसलिए आपको यह बर्दाश्त करना होगा। लेनिन ने एक बार कहा था कि कुछ चीजों को समझने और मानने के लिए लोगों को आप कायल नहीं कर सकते। आपको लोगों को कुछ अनुभव प्राप्त करने का मौका देना होगा ताकि वे अपने अनुभवों से चीजों को समझ सकें।

एक बार दलितों की बहुत बड़ी रैली हुई। उसमें वीपी सिंह, हरकिशन सिंह सुरजीत, बूटा सिंह और अन्य कई लोगों के साथ मैं भी वक्ता था। बंगलोर की एक पत्रिका का विद्वान संपादक भी मंच पर बैठा था। जब मैं विदा होने लगा, तो उसने मुझसे पूछा - 'क्या आप दलित हैं?' मुझे उनका सवाल ठीक नहीं लगा। बहरहाल, उसने पूछा, तो मैंने कहा - 'आपकी समस्या क्या है?'

उसने कहा - 'नहीं, दलितों की अपनी पहचान होनी चाहिए।'

मैंने कहा - 'बकवास। बकवास है यह। मैं ऐसी पहचान जरूरी नहीं मानता। आप क्या कह रहे हैं? आपका मतलब क्या है? आप चाहते हैं कि दलितों को दलित बने रहना है? आप उनको अन्य लोगों के समान इंसान नहीं बनने देना चाहते? आप कैसी बेहूदा बातें कर रहे हैं? बंद कीजिये यह सब।'

वह चुप हो गया। बाद में मैं एक दूसरी सभा में उससे मिला। वह श्रोताओं की पहली पंक्ति में बैठा हुआ था। मैंने जाति के मुद्दे पर, जातीय एवं सामाजिक उत्पीड़न और उससे मुक्ति पर खुलकर कहा। इस बार वह खुद मेरे पास आया और हाथ मिलाया। लेकिन अबकी उसने कुछ कहा नहीं।

चीजों के प्रति समझ कैसे बनती है? मैं कई स्वयंसेवी संस्थाओं (गैरसरकारी संगठनों - एनजीओ) की सभाओं में बोलता रहा हूँ। हमारे यहां एनजीओ के कामों को अमान्य करने की मनोवृत्ति है। मैं एजीओ द्वारा किये जा रहे कार्यों की उपेक्षा नहीं करना चाहता। इसका मतलब यह नहीं है कि आप कम्युनिस्टों या आपकी खास शब्दावली में 'तथाकथित स्थापित, संगठित वामपंथ' के योगदान की जड़ खोदने का प्रयास करें। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि कम्युनिस्टों और वामपंथियों के योगदान की जड़ खोदने का सुनियोजित प्रयास किया जाता है। मेरी राय में तो भारतीय यथार्थ की जटिलता में वामपंथियों और कम्युनिस्टों का योगदान अपरिमित है। आपको भारतीय सामाजिक जीवन की जटिलताओं और सदियों पुरानी पुरातनपंथी और प्रतिक्रियावादी ताकतों के संदर्भ में इसकी समीक्षा करनी चाहिए। मूलतः तमिलनाडु का होने के नाते मैं जाति की समस्या और कम्युनिस्टों द्वारा उसको सुलझाने के तरीके की चर्चा करना चाहता हूँ।

तमिलनाडु का एक खास हिस्सा तन्जावर, तिरुवेल्लोर और नागपट्टनम राज्यों में बंटा रहा। यहां के खेतिहर मजदूर मुख्यतः दलित हैं। ये लोग ऐसे हर नागरिक अधिकार, मानव अधिकार और लोकतांत्रिक अधिकार से वंचित थे, जिनकी आजकल हम खूब चर्चा करते हैं। जमींदार राक्षस थे, इन कामगारों का दमन करते थे। उन्हें नियमित रूप से सजा देते थे। सजा के रूप में उनकी क्रूरता प्रकट होती थी। पेड़ों से बांधकर जमींदार के वेतनभोगी कर्मचारी उन्हें कोड़ों से पीटते थे और उनके मुंह में गोबर भर देते थे।

कम्युनिस्टों ने इस मुद्दे को उठाया और जमींदारों के खिलाफ कई संघर्ष छेड़े। उनकी मांग थी - 'जमीन जोतने वालों की।' उन्होंने खेतिहर

मजदूरों के अधिकार और संरक्षण के समर्थन में आवाज बुलंद की। जमींदारों से कहा गया कि वे कामगारों के साथ अमानवीय बर्ताव बंद करें।

इससे जमींदारों, खेतिहर मजदूरों और ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों के बीच त्रिपक्षीय वार्ता का दबाव बना। वार्ता हुई और लिखित समझौता हुआ कि जमींदार इस तरह सजा के नाम पर बलप्रयोग नहीं करेंगे। यह 1943 की बात है, तब यह सदा के लिए खत्म हुआ।

यह सामाजिक न्याय की पहली लड़ाई थी, जिसका संचालन कम्युनिस्टों ने किया। लेकिन आज भी तमिलनाडु के दूरस्थ गांवों की चाय की दुकान में अलग-अलग गिलास रखने का रिवाज है - एक दलितों के लिए और दूसरे अगड़ी जातियों के लिए। आप पूछ सकते हैं कि कम्युनिस्टों ने इसके लिए क्या किया?

जहां कहीं भी कम्युनिस्ट हैं और इस तरह रिवाज चलन में हैं, वहां वे कभी चुप नहीं रहे। उन्होंने विरोध का इजहार किया और यही सच है। लेकिन जहां वे नहीं हैं, वहां होने वाले सामाजिक अन्याय की कार्रवाइयों के लिए कम्युनिस्टों को दोष नहीं दिया जा सकता। जैसा कि सती प्रथा के मामले में, जो राजस्थान में हुआ। हम वहां नहीं थे। हम उसको नहीं रोक सके। लेकिन जब मामला राष्ट्रीय स्तर पर आया, तो कम्युनिस्ट उस पर प्रहार करनेवालों की अगली कतार में थे।

कम्युनिस्ट जाति, लिंग और पर्यावरण की समस्याओं के प्रति भी सचेत हैं। सैद्धांतिक आधार पर कहूं तो, इन्हीं सब मुद्दों की वजह से कम्युनिस्ट आंदोलन शुरू हुआ। कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र ऐसा पहला कम्युनिस्ट दस्तावेज है, जो लैंगिक समानता की बात कहता है। वास्तव में यह दस्तावेज महिलाओं को सार्वजनिक संपत्ति बनाने के लिए मध्य वर्ग को खरे लहजे में दोषी करार देता है।

फ्रेडरिक एंगेल्स रचित 'डायलेक्टिक्स ऑफ नेचर' आज भी किसी प्रगतिशील सोचवाले व्यक्ति के लिए प्रकृति और इंसान के बीच के संतुलन को समझने के लिए बुनियादी किताब है।

भारत में लोग संस्कृति पर चर्चा करते हैं। आप किस संस्कृति की बात कर रहे हैं? आप किसकी संस्कृति के बारे में बात कर रहे हैं? आप आधुनिक तमिल संस्कृति, साहित्य और भाषा को लें, तो पायेंगे कि उन्हें सामाजिक, लोक साहित्य और अन्य समाजशास्त्रीय शोधों में कम्युनिस्टों के योगदान को स्वीकार किए बगैर नहीं समझ सकते हैं। कोई भी महत्वपूर्ण कवि, उपन्यासकार, कथाकार या आलोचक कम्युनिस्ट ही मिलेगा। लोग नहीं जानते। इसका मतलब यह नहीं कि कम्युनिस्ट कहीं असफल नहीं हुए। लेकिन ऐसा निर्णय मत सुनाइए कि कम्युनिस्ट असफल हो चुके हैं। आप ऐसा करने वाले कौन होते हैं? हम प्रयास कर रहे हैं। हम लड़ रहे हैं। हम ऐतिहासिक रूप से सफल रहे हैं। कम्युनिस्टों ने कई मुद्दों को पुनर्परिभाषित किया है।

कम्युनिस्ट समाज के क्रांतिकारी परिवर्तन के पक्ष में खड़े हैं। हम आर्थिक शोषण, सामाजिक उत्पीड़न के खिलाफ और राजनीतिक मुक्ति के लिए लड़ते हैं। हम समग्र क्रांति में विश्वास रखते हैं। इसके लिए शायद हमें कई चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा और अपने दुश्मनों की स्पष्ट पहचान करनी होगी।

उदाहरण के लिए, किसे भाजपा और आरएसएस अपना मुख्य दुश्मन मानते हैं? जवाब है - कम्युनिस्ट। इस बारे में उनके आधिकारिक प्रस्ताव हैं कि कम्युनिस्ट उनके मुख्य दुश्मन हैं। इसके अलावे वे अपने किसी दूसरे दुश्मन को चिन्हित करना चाहते हैं तो वह है भारत का संविधान।

हमारे दुश्मन इस बारे में एकदम स्पष्ट हैं कि उन्हें किसके खिलाफ लड़ना है। लेकिन हम स्पष्ट नहीं हैं। दुश्मन को टारगेट करने की बजाय आप अपने स्वाभाविक, राजनीतिक और सामाजिक साथियों को विरोधी बनाने का प्रयास करते हैं। हम उन्हें विमुख करते हैं। कम्युनिस्ट के रूप में हम तात्कालिक या स्थाई, सुसंगत या असंगत सहयोगियों से एकता कायम का प्रयास करते हैं। कोई असंगत हो सकता है लेकिन लेकिन जब तक वह हमारे संघर्षों की प्रगति में मददगार है, हम साथ चलते हैं।

हमारे दुश्मनों से लड़ने के लिए हमें सभी ताकतों को साथ लाना होगा। यदि आप ऐसी रणनीति या कौशल अख्तियार करते हैं, जो आपके अपने सहयोगियों को विमुख करता है या विरोधी बनाता है, तो यह अपने दुश्मनों को राज करने की अनुमति देने बराबर है। भारत में आज यही हो रहा है। गैरकम्युनिस्टों और लोकतांत्रिक लोगों को स्थिति की गंभीरता समझनी चाहिए।

सभी लोकतांत्रिक ताकतें समझती हैं कि यदि एकता को मजबूत किया गया, तो हम आगे बढ़ सकते हैं। हमें निराशावादी नहीं होना चाहिए। ग्राम्शी कहते हैं कि कभी-कभी इतिहास बहुत निराशाजनक होता है, तब आपके पास अनिवार्यतः क्रांतिकारी आशावाद होना चाहिए। भारत में आज जो कुछ हम देख रहे हैं, यह ऐतिहासिक निराशावाद है।

कुछ लोगों का विचार है, कम्युनिस्ट वैश्वीकरण का मतलब नहीं समझते। वे निजीकरण, उदारीकरण और वैश्वीकरण के खिलाफ लड़ते हैं। यदि मार्क्स जीवित होते, तो वह ऐसा नहीं करते। लेकिन मार्क्स के नाम पर कम्युनिस्ट निजीकरण, उदारीकरण और वैश्वीकरण का विरोध कर रहे हैं। वे कम्युनिस्ट घोषण-पत्र को उद्धृत करते हैं। लेकिन वे सिर्फ यह उद्धृत करते हैं कि पूंजीवाद कैसे सामंतवाद से भिन्न है, पूंजीवाद में उत्पादक शक्तियों का विकास कैसे होता है, पूंजीवाद में कैसे विज्ञान और तकनीक आगे बढ़ती है। वे सिर्फ इसी हिस्से की बात करते हैं लेकिन कम्युनिस्ट घोषणा पत्र का अंत ही इस बात से होता है कि 'दुनिया को कम्युनिस्ट क्रांति से हिला दो' और 'आपके पास अपनी बेड़ियों के सिवा खोने के लिए और कुछ नहीं है, जबकि जीतने के लिए पूरी दुनिया है।' विद्वान प्रोफेसर इस हिस्से का उल्लेख नहीं करते।

वैश्वीकरण एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है, जो सैकड़ों वर्षों से चल रही है। लेकिन वर्तमान वैश्वीकरण भिन्न है। यह भारत में 1991 से शुरू हुआ और हम इसको एक दशक से देख चुके हैं। यह क्या है? नव उपनिवेशवाद? पुनर्उपनिवेशवाद? वैश्वीकरण एकता की प्रक्रिया होना चाहिए, लेकिन यह एकता की बजाय विभिन्न राष्ट्रों के बीच और राष्ट्रों के भीतर विभाजन और विभेद की प्रक्रिया बना हुआ है।

वास्तव में यह पूंजी का केन्द्रीकरण है। मार्क्स के बाद लेनिन ने उत्पादन के पूंजीवादी पद्धति की तेजी और वित्तीय पूंजी की वृद्धि एवं प्रसार के बारे में बताया। यह नयी स्थिति है, जहां हम वित्तीय पूंजी की भयानक वृद्धि देख रहे हैं। यह अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी राष्ट्रीय सीमाओं और राष्ट्रीय भूगोल की परवाह नहीं करती। यह अपनी गति के लिए और पूरी दुनिया पर राज करने के लिए पूरी स्वतंत्रता चाहती है। लेकिन इसके रू-ब-रू यह श्रमिकों को किसी तरह की स्वतंत्रता देने को तैयार नहीं है।

पूंजी और श्रम के बीच का संघर्ष और अंतर्विरोध तेज हो चुका है। मार्क्स ने कपड़ा उद्योग के उदाहरण से पूंजीवाद के मूल चरित्र की व्याख्या करते हुए समझाया था कि कैसे अतिरिक्त मूल्य का शोषण होता है। हम अब पूंजीवाद के नये दौर में जी रहे हैं, जहां सूचना तकनीक उत्पादक शक्ति बन चुकी है, अन्य क्षेत्रों व उच्च टैक्नॉलाजी पर बेहद असर डाल रही है।

मार्क्स आज भी प्रासंगिक हैं। पूंजीवादी उत्पादन के लिए मुनाफा कमाना ही मुख्य उत्प्रेरक शक्ति है। जब अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी काफी बढ़ चुकी है, यह तुरंत और तगड़े मुनाफे - जिसको कुछ लोग सुपर मुनाफा कहते हैं - के लिए फैल रही है। इस प्रक्रिया ने अमीर और गरीब के बीच, राष्ट्र के भीतर तथा राष्ट्रों के बीच की खाई को बढ़ाया है। यह एक अंतर्राष्ट्रीय शक्ति है। लड़ाई इस शक्ति के खिलाफ होनी चाहिए। हम कैसे लड़ने जा रहे हैं? यह हमारी चिंता का विषय होना चाहिए।

कुछ लोग सोचते हैं कि वामपंथ वैश्वीकरण के खिलाफ लड़ने में असफल हुआ है और यह कि सिर्फ स्वयंसेवी संस्थाओं ने यह लड़ाई लड़ी। मैं नहीं कहता कि स्वयंसेवी संस्थाएं नहीं लड़ीं। लेकिन यह कहना गलत है कि वामपंथ नहीं लड़ा। इसका मतलब यह है कि आप इतिहास को बिल्कुल नहीं जानते या आप इतिहास को देखना ही नहीं चाहते।

1990 में जब नई आर्थिक नीतियां लागू की गईं, तो सभी बुद्धिजीवी 'टीना' (टीआईएनए) - कोई विकल्प नहीं - की बात कर रहे थे। उस समय कम्युनिस्ट ही सबसे पहले इन नई आर्थिक नीतियों के खिलाफ सड़कों पर उतरे थे। विनम्रता के साथ मैं बता दूँ कि जब सिविल नाफरमानी का आह्वान किया गया था, मैं खुद तिहाड़ जेल में बंद था। इससे स्थिति में एक निश्चित परिवर्तन आया। अब न सिर्फ कम्युनिस्ट बल्कि गैरकम्युनिस्ट, लोकतंत्रवादी, गैरसरकारी संगठन (एनजीओ) और सभी वाम ताकतें वैश्वीकरण के खिलाफ लड़ रही हैं।

ये सभी घोषणा करते हैं कि विकल्प है। जब कम्युनिस्ट इसके खिलाफ लड़ रहे थे, तो लोग कहते थे - 'कोई विकल्प नहीं है।' अब यह साफ है कि हम 'टीना सिन्ड्रोम' से बाहर निकल चुके हैं। कई लोगों को अब समझ में आया है कि वैश्वीकरण से लड़ने की जरूरत है और कई विकल्प हैं। लेकिन इस देश में विडम्बना यह है कि जिन ताकतों ने देशभक्त, स्वदेशी और असली भारतीय होने का दावा किया था, वे ही देश को बेच रही हैं और राष्ट्रीय हितों के साथ गद्दारी कर रही हैं।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया में अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी ऐसी मजबूत ताकत बन कर उभरी है, जो प्रभुतासंपन्न राष्ट्र-राज्यों के अधिकारों का अतिक्रमण कर रही है। हमारी संसद एक तरह से बात करने का अड्डा बनकर रह गयी है। असली नीतियां बाहर से - अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन के जरिये - कोई और तय कर रहा है।

कोई कह सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन में फर्क है, क्योंकि विश्व व्यापार संगठन में एक देश-एक वोट चलता है, लेकिन अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक में निवेश के आधार पर वोट तय होते हैं। इसलिए वे अमेरिका और अन्य विकसित देशों के पक्ष में हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि व्यवहार में विश्व व्यापार संगठन भी विकसित देशों का पक्षपाती है,

अमेरिका तथा यूरोपीय संघ के पक्ष में है।

बहुत से मुद्दों पर अन्तर्विरोध हो सकते हैं, लेकिन हमारे देश सहित विकासशील देशों तथा दक्षिण एशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया का अहित हो रहा है। पहले मैक्सिको चमत्कार के बारे में काफी चर्चा होती थी। अब कोई भी इस बारे में चर्चा नहीं करता। वे 'एशियन टाइगर्स' (एशियाई शेर) की चर्चा किया करते थे। अब कोई 'एशियन कैट्स' (एशियाई बिल्ली) की भी बात नहीं करता।

हमारी पहचान बहुराष्ट्रीय कंपनियों और पारदेशीय कंपनियों के लिए एक उपभोक्ता से कम या ज्यादा कुछ नहीं है। आप एक दिन में कितने लीटर पेप्सी पी जाते हैं? कितने बर्गर खाते हैं? हम यह कहते हुए अपने देश की तारीफ करते रह सकते हैं कि यह महान देश है, पांच हजार साल पुरानी संस्कृति और दर्शन वाला देश। लेकिन तथ्य यह है कि पारदेशीय निगमों के लिए हम सिर्फ बाजार भर हैं। आज हम किस प्रकार के अधिकारों की बात कर रहे हैं? नागरिक, मानवीय, लोकतांत्रिक? हमारे अधिकार कहां हैं?

सोवियत संघ के विध्वंस के बाद लोगों ने यह कहना शुरू किया कि सब कुछ विफल हो चुका है। विचारधारा सपना हो गयी। इतिहास का अंत हो गया, विचारधारा का अंत हो गया। लेकिन यदि इतिहास का अंत हो गया होता तो हमें यह संगोष्ठी करने की कोई जरूरत नहीं होती। सोवियत संघ में जो हुआ, उससे सीख ली जा सकती है। उन्होंने समाजवादी अर्थव्यवस्था, समाजवाद का एक खास मॉडल बनाना चाहा। वह खत्म हो गया। इसके कारणों की जांच-पड़ताल की जा रही है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि समाजवाद असफल हो गया क्योंकि हर देश के पास समाजवाद की तरफ जाने का अलग रास्ता है।

हम कम्युनिस्टों ने बहुत विनम्रता के साथ मजदूर वर्ग के आंदोलन, किसान आंदोलन और कृषि कामगार आंदोलन खड़ा करने की कोशिश की। इसका मतलब यह नहीं है कि हमने गैरवर्गीय मुद्दों को अनदेखा किया। हमने हमेशा वर्गीय और गैरवर्गीय मुद्दों के बीच द्वन्द्वात्मक संबंध

देखा।

आप आधार और अधिरचना के बीच द्वन्द्वात्मक संबंध को छोड़ नहीं सकते। जब हम वर्गीय अंतर्विरोध या वर्गीय रुझानों की बात करते हैं, तो गैरवर्गीय अंतर्विरोधों को भी अनदेखा नहीं कर सकते। लेकिन कुछ गैरकम्युनिस्ट और कम्युनिस्ट विरोधी बौद्धिकों का प्रयास है कि गैरवर्गीय अंतर्विरोधों को प्राथमिक मुद्दों के रूप में चित्रित किया जाय। और जब वे गैरवर्गीय अंतर्विरोधों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं, तब वे वर्ग संघर्ष और कम्युनिस्ट आंदोलन की अनदेखी कर जाते हैं।

अंत में, मैं क्यूबा के सांस्कृतिक-आध्यात्मिक पिता जोस मार्टी के वाक्य से अपनी बात खत्म करूंगा। उन्होंने कहा है - 'एक्शन सर्वोत्तम शब्द है।' जब एक्शन की बात हो, तो आप खड़े हैं? कम्युनिस्ट तो एक्शन के लिए हैं। वे परिवर्तन के लिए हैं। मार्क्स ने कहा था - 'आप दुनिया भर के स्थापित आंदोलनों या वामपंथी आंदोलनों की व्याख्या कर सकते हैं, लेकिन असली सवाल बदलने से जुड़ा है।' कौन बदलेगा? वर्ग संघर्ष के जरिये ही बदलाव होगा। वर्गीय आंदोलन कौन खड़ा करेगा? आप इसको संगठित आंदोलन में तब्दील कर सकते हैं। लेकिन इसमें संगठित होना मायने रखेगा। यही भारतीय यथार्थ है। यही भारतीय इतिहास है।

## विमर्श

**महेन्द्र लावती :** नेतृत्व करने में कम्युनिस्टों की विफलता की क्या वजह है? आपने बताया कि कठिन परिश्रम और ईमानदारी से कम्युनिस्टों ने जनता में सांस्कृतिक आकांक्षाएं पैदा कीं, इसके बावजूद वे उन समूहों का नेतृत्व करने में सफल नहीं हुए। इसका कारण कहीं यह तो नहीं कि उन्होंने स्थानीय और विशेष मुद्दों की बजाय वैश्विक विचारधारा का अनुसरण किया?

**गोपाल शिवाकोटी 'चिंतन' :** वैश्वीकरण का विरोध करनेवाली विभिन्न ताकतों के साथ गठजोड़ करने में क्या खतरा है? आप कैसे सोचते हैं कि हम अपनी अस्मिता की सुरक्षा और प्रोत्साहन के लिए वैश्वीकरण के नकारात्मक पहलुओं या वैश्वीकरण के साम्राज्यवादी पहलुओं के खिलाफ लड़ सकते हैं? हमारे अपने समाज, राष्ट्र-राज्य और संपूर्ण दक्षिण एशिया में कौन हमारा सहयोगी हो सकता है?

कम्युनिस्ट पार्टियों के नजरिये से वैश्वीकरण को कैसे देखा जाये? नेपाल के अनुभवों के आधार पर हमारे कम्युनिस्ट दोस्तों और नेताओं के पास सिर्फ एक मानक स्पष्टीकरण है कि वैश्वीकरण अपरिहार्य है। आप नेपाल, भारत और संपूर्ण एशियाई क्षेत्र में वैश्वीकरण से लड़ने के लिए वामपंथियों की स्थिति को कैसे देखते हैं? कौन-कौन इसमें सहयोगी हो सकते हैं? दिल्ली, लखनऊ, काठमांडू, दक्षिण एशिया और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कौन से विशेष कदम उठाये जा सकते हैं?

**सी. लक्ष्मणन :** भारतीय राजनीति और समाज में अस्मिता क्यों महत्वपूर्ण हो गयी है? इस सवाल का जवाब देते हुए वंचित लोगों की पीड़ा, अपमान और सम्मान की चाह को समझना और उसका विश्लेषण करना जरूरी है। अस्मिता का यह पूरा सवाल राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संघर्ष के इतिहास से भारतीय राजनीति में आया है। उसी समय वंचित लोगों के वैकल्पिक आंदोलन भी शुरू हुए। कांग्रेस पार्टी ने कहा कि राजनीतिक स्वतंत्रता सभी मुद्दों को हल कर लेगी। लेकिन वहीं दूसरी धारा भी थी, जिसने कहा कि राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ जाति व्यवस्था की दासता को समझना भी जरूरी है।



आज की राजनीति में अस्मिता का मुद्दा अस्तित्व में क्यों आया? तमिलनाडु में द्रविड़ आंदोलन ब्राह्मण विरोधी आंदोलन के रूप में प्रकट हुआ। माना गया कि तमिल की स्वतंत्र अस्मिता है। इस आंदोलन को न सिर्फ गैरब्राह्मणों का समर्थन मिला बल्कि महिलाओं, दलितों और अन्य पिछड़ी जातियों ने भी इसका समर्थन किया। लेकिन द्रविड़ पार्टी के 75 साल बाद एक मजबूत दलित आंदोलन प्रकट हो रहा है। वहां द्रविड़ आंदोलन से पूरी तरह से अंसतुष्ट मजबूत दलित आंदोलन क्यों है?

तमिलनाडु के तमाम ग्रामीण क्षेत्रों में दोहरा वर्ग है। वहां छुआछूत और दलितों के खिलाफ हिंसा की कई घटनाएं हुई हैं। जब द्रविड़ पार्टियां सत्ता में आयीं, तो उन्होंने कभी भी जातिवादी पार्टी होने का दावा नहीं किया। लेकिन वे इस गंभीर सामाजिक समस्या को सुलझाने में विफल हो गयीं। उन्होंने सिर्फ सत्ता में आने के लिए राजनीति का इस्तेमाल किया। आज सभी दलित पार्टियां द्रविड़ पार्टी - डीएमके - के खिलाफ हैं।

मैं एक दलित हूँ लेकिन मैं उनमें से एक होने का दावा नहीं करता। मैं अपने आप को मानवतावादी मानता हूँ। मैं कोई दूसरी पहचान नहीं चाहता। लेकिन हम छुआछूत को कैसे मिटायें? यह करने के लिए मुझे एक जमात की जरूरत है, और वह जमात जाति से बनती है। यह धार्मिक और सांस्कृतिक व्यवस्था से उभरती है। अस्मिता की राजनीति का यही मूल तर्क है।

महिलाओं से संबंधित सवालों को भी अधिसंख्य राजनीतिक पार्टियों ने नहीं उठाया है। इस देश में महिलाओं के उत्पीड़न पर एक फिल्म तक बनाने की आजादी नहीं है। 'वाटर' फिल्म की शूटिंग में यही सब देखा गया। उन्होंने फिल्म की शूटिंग रोक दी। यह एक गंभीर मामला है। अस्मिता की राजनीति तभी सामने आती है, जब विचारधारा पर आधारित राजनीति समाज की समस्याओं को सुलझाने में सक्षम नहीं होती।

**रौशन धुन्जीभॉय :** अस्मिता की यह राजनीति सिर्फ एशिया तक सीमित नहीं है। इसको आप अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी अगली कतार में पाते हैं। क्या बोस्निया और कोसोवो अस्मिता की राजनीति के मामले नहीं हैं? क्या तालिबान एक प्रचंड अस्मिता की समस्या नहीं है - जो संकट बन गयी। पूर्व सोवियत संघ में क्या था? अस्मिता का संकट। यदि आप मध्य एशियाई गणतंत्रों को जोड़ कर देखें, तो हर छोटा हिस्सा अपनी अस्मिता पर जोर दे रहा है या वह अस्मिता की छवि पेश कर रहा है।

यह सिर्फ वर्गीय दमन हो, जरूरी नहीं। इसका एक वर्ग चरित्र है लेकिन इसमें अन्य चीजें भी हैं। लैंगिक मुद्दों के पीछे कोई न कोई वजह है। यह मेरी निजी धारणा है। लेकिन मैं पूछना चाहती हूँ कि यह समस्या सिर्फ स्थानीय न होकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर क्यों उभर रही है?

**इलक सुबेदी :** अस्मिता की समस्या राष्ट्रों के अंदर है। नेपाल में भी अस्मिता की समस्या का खतरा है, जिसे वैश्वीकरण ने और बढ़ाया है। भूमिगत दिनों में हमारी पार्टी के भीतर नेता और कैडर के बीच, दलित और गैरदलित के बीच कोई अंतर नहीं था। 1990 के बाद पार्टी राष्ट्रीय मुख्यधारा में शामिल हुई। धीरे-धीरे भूमिगत दिनों के दलित नेताओं को किनारे लगा दिया गया। क्योंकि पार्टी के गैरदलितों और मध्य वर्ग में अपना आधार बनाना था। आज दलितों से पार्टी और देश में दूसरे दर्जे के नागरिकों की तरह व्यवहार किया जाता है। माओवादी आंदोलन में 30 प्रतिशत से अधिक ग्रासरूट स्तर का नेतृत्व दलित समुदायों से है। मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि यदि वे खुले रूप में सामने आयेंगे, तो वे इस स्थिति को बरकरार रख पायेंगे अथवा नहीं। जहां कहीं भी दलित हैं उनमें हिम्मत पैदा करनी होगी - वे चाहे कम्युनिस्ट आंदोलन में हों, समाजवादी आंदोलन में हों या सर्वोदयी आंदोलन में।

वैश्वीकरण के खिलाफ लड़ने के लिए हमें विभिन्न समूहों के बीच सक्रिय गठबंधन बनाना होगा। पहले वामपंथियों के बीच में फिर गैरवामपंथी अतिवादियों के बीच। सभी कम्युनिस्ट पार्टियों को एक साथ

एक मंच पर लाने की जरूरत है। यदि हमें इस वैश्वीकरण को रोकने में निर्णायक भूमिका अदा करनी है या अस्मिता की राजनीति पर नजर रखनी है, तो अतिवादी वामपंथ या अतिवादी लोकतंत्रियों को एक व्यापक गठबंधन तैयार करना होगा।

**पुरुष आवाज :** हम लोकतंत्र को मजबूत करने की बात करते हैं। लेकिन आज हम हर जगह बाजारीकरण देखते हैं। बाजार लोकतंत्र का आधार बन गया है। तो लोकतंत्र है कहां?

एक मित्र ने कहा कि दलितों का गैरदलितीकरण जरूरी है। उनको ऊपर उठाया जाना चाहिए। जब हम इन कठिन परिश्रम करनेवाले लोगों की बात करते हैं और ब्राह्मणवाद की आलोचना करते हैं, तो हम भी इसी के हिस्से होते हैं। क्या हम उन्हें शोषक बनाने के लिए ऊपर उठाना चाहते हैं। समाज में एक ध्रुवीकरण है। गरीब अधिक गरीब तथा अमीर और अधिक अमीर होते जा रहे हैं। कपड़े धोने वाले, बर्तन साफ करने वाले और फर्श पर पोछा लगाने वाले दलितों के नये समूह उभर रहे हैं। उनके बच्चों के लिए शिक्षा का कोई इंतजाम नहीं है। समाज में नये तरह की अस्पृश्यता बढ़ रही है। बुद्धिजीवी इसके लिए क्या कर रहे हैं? पूरी दुनिया में एक नयी किस्म का ब्राह्मणवाद उभर रहा है। मुट्ठी भर बुद्धिजीवी फालतू के भौतिक उपभोग में जुटे हैं। लोकतंत्र के नाम पर एक नाटक खेला जा रहा है। बुद्धिजीवी पूरी तरह से शारीरिक श्रम से कटे हुए हैं।

**पुरुषोत्तम अग्रवाल :** सवाल था कि गठबंधन की कसौटी क्या होगी? मैं सोचता हूँ, अपने अनुभवों के आधार पर हम सभी जानते हैं कि जो कोई भी सार्वभौमिक नैतिकता और लोकतांत्रिक मूल्यों पर विश्वास करता है, वह हमारा साझेदार हो सकता है। कोई व्यक्ति वर्णाश्रम के विरोध के नाम पर वैश्वीकरण के खिलाफ हो सकता है। वैश्वीकरण खतरनाक है मुख्यतः इसलिए कि यह सार्वभौमिक लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना और जीवन में उन्हें उतारने के खिलाफ है। इसलिए वैश्वीकरण विरोधी गठबंधन बनाने की किसी भी प्रक्रिया में यह स्पष्ट होना चाहिए कि इसमें शामिल होनेवालों की सामान्य लोकतांत्रिक मूल्यों

के प्रति सोच स्पष्ट है।

एक नेपाली मित्र ने उल्लेख किया कि मार्क्सवाद या कम्युनिज्म विफल हो गया है, क्योंकि वह एक वैश्विक विचारधारा का अनुसरण करता है। मैं कहूंगा कि वह इसलिए असफल हुआ क्योंकि वह देश के सामाजिक और सांस्कृतिक मुद्दों के प्रति समुचित रूप से संवेदनशील नहीं बना या उसने उन पर गौर नहीं किया। 'विशेष' का सवाल 'सार्वभौमिक' को खारिज नहीं करता। जब मैं सार्वभौमिक मूल्यों की बात करता हूँ, तो मैं विशेष सवालों को खारिज नहीं करता और जब विशेष सवालों और चुनौतियों की बात करता हूँ तो मैं सार्वभौमिक मूल्यों को निरस्त नहीं करता। इसलिए मेरे लिए मार्क्सवादी आंदोलन या विचारधारा की अंतर्राष्ट्रीय या वैश्विक प्रकृति निश्चित रूप से कोई समस्या नहीं है। वास्तव में यह हल निकालने का तरीका है। इसको प्रोत्साहन और मजबूती दी जानी चाहिए।

हमारी असफलता का एक मुख्य कारण यह है कि हम वैश्वीकरण की अपनी आलोचना से चिपके हुए हैं। समस्या 'टीना' (टीआइएनए) सिन्ड्रोम से निकलने की है। यदि हम यह मानकर चलते हैं कि या तो वैश्वीकरण का कोई विकल्प नहीं है या सिर्फ परंपराओं का पुनरुत्थान ही विकल्प है तो वैश्वीकरण के खिलाफ कोई सार्थक लड़ाई नहीं हो सकती। आपको अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक स्थितियों के रू-ब-रू अपने तरीके और विश्वसनीय तरीके से अपने विकल्प के सूत्र ईजाद करने हैं। आपको इसे शास्त्रीय और राजनीतिक रूप में प्रस्तुत करना है कि एक खास समुदाय से संबद्ध मेरी अस्मिता और किसी निश्चित विचार समूह, विचारधारा या विश्व दृष्टि से जुड़ी मेरी अस्मिता के बीच द्वैध संबंध है।

हमारे पास मुद्दों के प्रति बेहतर समझ होनी चाहिए। पिछले चंद दशकों से समस्या यह रही है कि हमने साझे सपने की शक्ति और समुदाय के विचारों की शक्ति में आस्था खो दी है। हमने संपूर्ण विश्व के क्रांतिकारी रूपांतरण की संभावनाओं के प्रति आस्था खो दी है। इसलिए किसी भी तरह के परिवर्तन के ब्लूप्रिंट की क्षमता और प्रभाव

के प्रति भी हममें भरोसा नहीं रहा। इसलिए, हम यहां हैं क्योंकि मानव प्रकृति में सामुदायिकता की भावना होती है। यहां तक कि सर्वाधिक व्यक्तिवादी लोगों और अकेले रहने वाले लोगों में भी समुदाय की एक मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक भावना होती है। यदि मैं एक विचार समुदाय में अपनी आध्यात्मिक, राजनैतिक और सामाजिक जरूरतों का समाधान नहीं पाता, तो मैं दूसरे समुदाय में जाता हूँ, जो अस्मिताजन्य समुदाय है, मूल रूप में खून के रिश्तों से बना समुदाय है। जब विचारधारा असफल हो जाती है, तब अस्मिता की राजनीति केन्द्र में आ जाती है।

विश्व अर्थव्यवस्था या विश्व की संस्थाओं को चलाने के लिए वैश्वीकरण ही एकमात्र रास्ता नहीं है। दूसरे रास्ते भी हैं या कहा जा सकता है कि वैश्वीकरण का वैकल्पिक रास्ता भी है। वैश्वीकरण का विरोध किया जाना चाहिए। यह प्रतिरोध निषेधात्मक नहीं हो सकता। प्रतिरोध को भारत, नेपाल, जर्मनी या ब्रिटेन तक सीमित नहीं रखा जा सकता। इसको अंतर्राष्ट्रीय होना होगा और यह प्रतिरोध तभी सार्थक होगा, जब हम कुछ वास्तविक और ठोस मुद्दे पेश करने में कामयाब होंगे।

अस्मिता बेशक एक वैश्विक समस्या है। बहुत सारे राष्ट्र-राज्य जातीय अस्मिता के उभार के कारण विखंडित हो रहे हैं, क्योंकि राष्ट्र-राज्य की अस्मिता के तहत जातीय अस्मिता के वजूद को कमतर माना गया। आपके पास विचारों का समुदाय हो सकता है या खून का समुदाय हो सकता है। मैं बनिया हूँ तो मेरे पास बनिया समुदाय हो सकता है। यदि मैं सवर्ण हूँ, तो मेरे पास सवर्ण समुदाय हो सकता है। लेकिन मेरे पास ऐसे विचारों का समुदाय भी हो सकता है, जिसमें मेरे किसी खास जाति में होने का सवाल बेमानी हो जाता है और उससे मेरी जाति विशेष पहचान का अंतर्विरोधी संबंध बनता है।

सभ्यतागत चुनौतियों का सामना हर व्यक्ति करता है। तथाकथित वैश्वीकरण वास्तव में सभ्यतागत चुनौती की सोच का स्रोत बन चुका है। सभ्यताओं को मिलने वाली यह चुनौती भारत से लेकर ईरान तक हर तरह की फासिस्ट और प्रतिक्रियावादी ताकतों द्वारा विरूपित की जा रही

है। असली खतरा यही है। हमें समाज के लोकतांत्रिक पुनर्निर्माण की दृष्टि के आलोक में वैश्वीकरण के खिलाफ लड़ना है।

**डी. राजा :** इन नयी आर्थिक नीतियों का दर्शन क्या है? हमें इस बारे में स्पष्ट होना चाहिए। यह दर्शन निरपेक्ष व्यक्तिवादियों के लिए सुविधाएं मुहैया करता है। यहां सामाजिक प्राणी होने का कोई सवाल नहीं है। आप सामाजिक हैं। मैं सामाजिक हूँ। हम समाज से बाहर नहीं सोच सकते। हम अपने जीवन के बारे में समाज से बाहर नहीं सोच सकते। हम अपने आपको सामाजिक बनाना चाहते हैं, लेकिन नयी आर्थिक नीतियों के दर्शन ने इस अवधारणा को खत्म कर दिया है। यह निरपेक्ष व्यक्तिवादियों को किसी भी सामाजिक जिम्मेदारी से मुक्त देखता है। यह समाज के सभी मूल्यों को खत्म करता है। यह परिवार संस्था सहित अन्य सभी संस्थाओं को भी खत्म करता है।

भारत और नेपाल जैसे देशों में हम संगठित क्षेत्र और असंगठित क्षेत्र की बात करते हैं। अब वैश्वीकरण के संदर्भ में एक आदमी कमरे के कोने में कम्प्यूटर पर बैठे-बैठे उत्पादन प्रक्रिया में भागीदारी कर रहा है। वह एक व्यक्ति के रूप में रहता है। वह अपने देश की चिंता नहीं करता लेकिन वह एक व्यक्ति के रूप में कहीं न कहीं उत्पादन की प्रक्रिया में भागीदारी करता है। इसलिए अब चुनौती है मूल्यों की इस व्यवस्था और वैश्वीकरण की इस प्रक्रिया से लड़ने के लिए रास्ता ढूंढने की।

अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी एक अंतर्राष्ट्रीय ताकत बन चुकी है। उसके खिलाफ अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रीय, राष्ट्रीय, स्थानीय और ग्रासरूट स्तर पर कार्यवाई होनी चाहिए। संपूर्ण विश्व में ऐसी कार्यवाई होनी चाहिए। यह सिएटल में प्रारंभ होकर वाशिंगटन, न्यूयॉर्क, मेलबोर्न, प्राग और विश्व के सभी बड़े शहरों में हो रहा है।

न्यूयॉर्क में एक संघर्ष का नेतृत्व महिलाओं ने किया। कई महिला संगठन साथ आये और उन्होंने विश्व बैंक की नीतियों के खिलाफ 'ग्लोबल मार्च' किया। भारत में संघर्ष की शुरुआत कम्प्युनिस्टों ने की और बाद में गैरकम्प्युनिस्ट व कई लोकतंत्री इससे जुड़े। संघर्ष अभी भी

जारी है। हमारी अलग-अलग लड़ाइयां भी हैं। कृषि एक ऐसा ही क्षेत्र है। वैश्वीकरण की नीतियां उसे बर्बाद कर रही हैं। खास कर तीसरी दुनिया के देशों में। भारत का हर गांव उथल-पुथल से गुजर रहा है। किसान और कृषि कामगार सरकार के खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं। किसानों ने आत्महत्या की है। यह बहुत दुखद है कि बड़ी लड़ाइयों के लिए मशहूर पंजाबी किसान आत्महत्या कर रहे हैं।

अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के संदर्भ में विदेशी निवेश पर 'टॉबिन टैक्स' चर्चा में है। मैक्सिको और फिलीपीन्स में जो हुआ, वहां यहां भी हो सकता है। यह बहुत सारे देशों में हो रहा है। इसलिए यह टैक्स अनिवार्य है। कनाडा की संसद पहले ही इसका अनुमोदन कर चुकी है। हमें अंतर्राष्ट्रीय निवेश के अंतर्प्रवाह और बहिर्प्रवाह पर नियंत्रण के लिए इसे अपनाना होगा।

प्रत्येक देश और संपूर्ण दुनिया के उत्पीड़ित लोगों को एकजुट होना चाहिए। यह एक व्यापक अस्मिता का सवाल है, जो सभी लोगों को जोड़ता है। हमारे जैसे देश में क्या होता है? हमारे यहां जातियां हैं और प्रत्येक जाति आरक्षण मांगती है। ब्राह्मण भी आरक्षण मांगना शुरू कर देंगे। अरे बाबा, आपको हमसे परेशानी क्यों है? आप हमें आरक्षण का इतना प्रतिशत दे दें और शेष लोगों के साथ जो करना चाहते हैं, करें। जाति के नाम पर ब्राह्मण और दलित जो कुछ कर रहे हैं, क्या आप उसको जायज ठहरा सकते हैं? आपको हर जगह जातिगत भेद-भाव मिलेगा। भारत में यह कम हो सकता है लेकिन यह हर जगह है।

विश्व व्यापार संगठन के आक्रमण का मुकाबला करने के लिए 'सार्क' को मजबूत किया जाना चाहिए। यह व्यापार और अन्य चीजों के लिए एक मंच हो सकता है। ऐसे लोग भी हैं, जो इस काम में जुटे हुए हैं। यूरोपियन यूनियन की तरह दक्षिण एशियाई यूनियन क्यों नहीं है? यूरोपीय यूनियन के देशों की भी समस्याएं हैं लेकिन समस्याओं के बावजूद वे नजदीक आना चाहते हैं। जब चीन और अन्य विकासशील देशों से निपटना होता है, तो यूरोपीय देश और अमेरिका साथ हो जाते हैं। मुझे विश्वास है कि विकासशील देश साथ-साथ आ सकते हैं और

विश्व व्यापार संगठन में अपनी सामूहिक आवाज उठा सकते हैं। हमें अपनी सरकारों पर दबाव बनाना चाहिए कि वह सभी विकासशील देशों के साथ एकजुट हों।

कभी हम गुटनिरपेक्ष आंदोलन और नयी अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की बातें किया करते थे। अब उन नारों को भुला दिया गया है। हमें अपने नारों का नवीकरण करने और एक दूसरे से सीखने की जरूरत है। हमें वैश्वीकरण के खिलाफ लड़ने और सभी देशों के गरीबों और शोषितों के हितों को सुरक्षा के लिए प्रतिबद्ध होना चाहिए।

## लोकतंत्र में स्त्री

विचार

स्त्री और पुरुष के लिए अलग-अलग जगह!

*दीप्तिप्रिया मेहरोत्रा*

विमर्श

## स्त्री और पुरुष के लिए अलग-अलग जगह!

दीप्तिप्रिया मेहरोत्रा

हमारे समाज में महिलाओं और पुरुषों के लिए अलग-अलग जगहें हैं। यह सब इसके बावजूद है कि महिलाएं शिक्षित हैं, बहुत शिक्षित हैं। एक झिंझोड़ने वाला और जीवंत महिला आंदोलन भी उपस्थित है, जो ग्रासरूट लोकतंत्र के सुदृढीकरण के लिए सक्रिय योगदान कर सकता है।

हर दो साल में महिलाओं का एक स्वतंत्र सम्मेलन होता है। जिसमें दर्जनों महिला संगठन एक साथ इकट्ठे होते हैं, जहां वे महिला आंदोलन के सुदृढीकरण, महिलाओं के अधिकारों और महिलाओं की अस्मिता के बारे में चर्चा करते हैं। साथ ही दमन का प्रतिरोध कैसे किया जाय तथा महिला कामगारों के शोषण के खिलाफ कैसे लड़ा जाय, इस पर भी विचार करते हैं। इसमें घरेलू क्षेत्र में काम करने वाली महिलाओं, फैक्ट्रियों में काम करने वाली महिलाओं के मुद्दे शामिल रहते हैं। यही एक महत्वपूर्ण बिंदु है, जहां मुझे लगता है कि महिला आंदोलन मार्क्सवादी आंदोलन से आगे है। अन्यथा हमने मार्क्सवादी आंदोलन से बहुत सारी चीजें सीखी हैं। यह महिला आंदोलन के इतिहास का हिस्सा है। उन्होंने अधिकांश मुद्दों को कई बार उठाया था।

वामपंथी हलकों में महिलाओं के सवालों को एक निश्चित सीमा के भीतर देखा जाता है। इसलिए इसे सिर्फ वामपंथी आंदोलन के भीतर नहीं सुलझाया जा सकता। वहां स्वायत्तता का मुद्दा सामने आता है।

स्वायत्तता का मुद्दा महिलाओं के लिए एक व्यक्ति के रूप में और समूह के रूप में बहुत महत्वपूर्ण है। स्वायत्तता सिर्फ स्वतंत्र महिला आंदोलनों के लिए एक मुद्दा नहीं है, बल्कि स्वायत्तता अधिसंख्य महिलाओं के लिए एक मुद्दा है। यह हममें से प्रत्येक के लिए एक मुद्दा है। यह उन महिलाओं के लिए भी एक मुद्दा है जो लिख-पढ़ रही हैं लेकिन अपने घरेलू जीवन में उन्हीं सब चीजों के लिए लड़ रही हैं।

आज से 2500 साल पहले बौद्ध भिक्षुणियों ने ऐसा ही किया, जब बुद्ध ने उन्हें 'संघ' में आने की अनुमति आसानी से नहीं दी। उन्होंने स्वतंत्रता के बारे में लिखा। उन्होंने रसोई और सिल-बट्टे से मुक्ति के बारे में लिखा। उन्होंने 'सिल-बट्टे और कुबड़े मालिक से मुक्ति' के बारे में कहा। उन्होंने दमन के बारे में लिखा। हमारे पास महिला प्रतिरोध के बहुत सारे मामले नहीं हैं, क्योंकि यह लिखित इतिहास नहीं है। लेकिन नारीवादी विद्वान स्त्रियों (विदुषी) के कारण उनमें से कुछ अब हम तक पहुंच चुका है।

महिलाओं की अस्मितागत आकांक्षाएं क्या हैं? कोई परिभाषित नहीं कर सकता। मैं कभी नहीं कहती कि मैं सभी महिलाओं का प्रतिनिधित्व करती हूँ। मेरी कोई पार्टी लाइन नहीं है। मेरे पास कुछ निश्चित सिद्धांत हैं, जो महिला आंदोलन के सिद्धांत हैं, जिनको वामपंथी और दलित आंदोलनों ने भी स्वीकार किया है।

महिला आंदोलन का अंतिम लक्ष्य क्या है? मैं कह सकती हूँ कि हम संरचात्मक स्तर पर हिंसा के खिलाफ लड़ रही हैं। यह हिंसा आर्थिक ढांचे में है, सामाजिक संरचना में है, परिवार के भीतर है और इसके साथ यौन हिंसा भी है। इसी के तहत हम दहेज और बलात्कार के खिलाफ लड़ रहे हैं। हम समाज के बारे में क्या कह रहे हैं? क्या इससे सब टूट जायेगा? यह सवाल हममें डर पैदा कर रहा है। यही डर महिला आंदोलन के सामने रुकावट पैदा करता है, क्योंकि सामान्य तौर पर यह सोचा जाता है कि महिलाएं तोड़-फोड़ चाह रही हैं।

हां, 30 साल पहले की तुलना में आज वैवाहिक टूटन के उदाहरण ज्यादा हैं। लेकिन हमें खुद से पूछने की जरूरत है कि किस

तरह की समानता हम चाहते हैं? यदि महिलाएं आंदोलित हो रही हैं और अपनी आकांक्षाओं को बुलंद कर रही हैं, तो वहां किस तरह के समीकरण हैं? जो संरचनाएं इतनी अन्यायपूर्ण हैं, उनमें शायद और अधिक टूटन आयेगी? मैं कुछ विधावाओं, तलाकशुदाओं और कुछ अकेले रह रही महिलाओं के साथ काम कर रही हूँ। इनमें से सभी ने विवाह-बंधन को बचाये रखने के लिए वर्षों प्रयास किया। मध्यमवर्ग या उच्चवर्ग, किसी के लिए भी यह कहना आसान नहीं है - ठीक है, ये विवाह खत्म हो गया। उनमें से कई ने मुझे बताया कि यह मेरे लिए उनके लिए अनमोल था। आमतौर पर पुरुष साथी ने रिश्ता तोड़ा या फिर दमन और हिंसा इस हद तक पहुंच गयी कि महिलाओं को घर छोड़ना पड़ा।

हमें समुदायों और परिवारों के भीतर दमन तथा परंपरा में महिलाओं को उत्पीड़ित करने के दुष्कर्म के बारे में भी सोचने की जरूरत है। आज भी महिलाएं हर तरह की परंपरा निभाती हैं। पुरुषों की अपेक्षा महिलाएं अधिक परंपरागत लिबास पहनती हैं।

परंपराओं के कई जटिल क्षेत्र हैं जैसे - जन्म की परंपरा, स्वास्थ्य के देशी उपाय और मृत्यु के कर्मकांड। महिलाएं रसोई और घर को सहेजकर रखती हैं। हमारी आबादी स्वास्थ्य घरेलू इलाज या महिलाओं के इलाज पर टिकी है। ये नुस्खे बेहद परिष्कृत होते हैं। अब दिख रहा है कि यह सब वैश्वीकरण के कारण खत्म होता जा रहा है, हमारी औषधीय वनस्पति और महिलाओं का ज्ञान, दोनों का निजी फायदे के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है।

20 सालों से महिला आंदोलनों से जुड़े होने के कारण इसके विभिन्न पहलुओं को समझते हुए मैं कह सकती हूँ कि बूढ़ी-बुजुर्ग और परंपरागत महिलाओं के पास जो जवाब हैं, वे वैश्वीकरण से लड़ने में हमारे लिए मददगार हो सकते हैं। उनके पास कोई अंतिम जवाब नहीं है। समन्वय और गठबंधन अत्यावश्यक है। यह सवाल भी है कि कौन हमारे दुश्मन हैं और कौन दोस्त? आपने फिर कहा - 'दुनिया के कामगार पुरुषों एक हो'। मुझे गुस्सा आता है। आपकी मंशा पर नहीं, आपकी भाषा पर जो पितृसत्तात्मक स्वरूप में ढली है और आज भी

प्रयोग में लायी जा रही है। मुझे फिर कहना पड़ेगा कि 'यह राजनीतिक भाषा है।' मैं भाषा में अन्तर्निहित राजनीति पर बात करना चाह रही हूँ। यह कोई छोटा मुद्दा नहीं है। बहुत से सभा-जमघट में 'चेयरमैन' (सभापति) शब्द 'चेयरपर्सन' (अध्यक्ष) में बदला होगा। लेकिन अभी भी बच्चे हमारी पाठ्य-पुस्तकों में 'मैन दि हंटर' पढ़ते हैं।

यह 'मैन दि हंटर (पुरुष शिकारी), 'दि नियोलिथिक मैन' (पाषाण पुरुष), 'दि पॉलियोलिथिक मैन' (पुरापाषाण पुरुष) आदि हैं। जिन लोगों के बारे में हम सोचती हैं कि वे हमारी तरह हैं या जिनके साथ हम गठबंधन करना चाहती हैं, वे ही बेहद अपमानजनक भाषा का प्रयोग करते हैं। भारत में स्कूली बच्चों को क्या पढ़ाया जाता है और बच्चों में स्त्रियों और पुरुषों की कैसी छवि है - इस पर कई तरह के अध्ययन किये गये हैं। यह किसी एक का निष्कर्ष नहीं कि भाषा सामूहिक प्रक्रिया है, जिसका हम प्रयोग करते हैं और इसे बदलने की जरूरत है।

दिमाग में एक छवि बनायी गयी है, जिसके बारे में हम तब तक नहीं सोचते जब तक हम नारीवादी स्कॉलर नहीं बन जाते। महिलाओं की पढ़ाई को संकीर्ण कर दिया गया है। आंदोलन के भीतर और बाहर, दक्षिणपंथी भी और वामपंथी ताकतें भी या तो उपेक्षा कर रही हैं या फिर को-ऑप्शन कर रही हैं। जहां तक मेरा संबंध है, मैं मानती हूँ कि महिला आंदोलन तब तक सार्थक रूप में आगे नहीं बढ़ सकता, जब तक हम वामपंथ के साथ नहीं चलते लेकिन हमें कतई उसमें शामिल होने की जरूरत नहीं। बहुत सारे मुद्दे हैं जिन्हें हम निर्मम तरीके से नहीं सुलझा सकते और हर मुद्दे के साथ ढेर सारा भावावेग होता है। लोग भावनात्मक प्राणी हैं।

महिला आंदोलन दृढ़ता के साथ मानता है कि भावना और तर्क साथ-साथ चलना चाहिए। सब कुछ अतार्किक नहीं होना चाहिए। लेकिन जो कुछ भी अतार्किक है, उसे प्रबोधन के दर्शन और कार्टेसियन दर्शन द्वारा किनारे कर दिया गया है। पश्चिमी विचार में यह सदियों पुराना दर्शन है और यह सोच पर लगातार हावी रहता है।

अन्य मुद्दा निजी और सार्वजनिक के बीच के अंतर से जुड़ा है। यह हमें संभवतः भारतीय परंपरा और साथ ही पश्चिमी शैक्षिक (अकादमिक) परंपरा और उपनिवेशवाद से विरासत में मिला है। यह जारी है और इसकी जड़ें काफी गहरी हैं। यदि हम सभी इसे उखाड़ फेंकने की कोशिश नहीं करेंगे तो यह खत्म होनेवाला नहीं है क्योंकि यह निजी जीवन के जरिये भीतर तक प्रवेश कर जाता है।

यदि हम गंभीरता से सोचें, अगर जीवन जिसका वैयक्तिकरण हो गया है, काम जिसका वैयक्तिकरण हो गया है, इतिहास जिसका अब तक वैयक्तिकरण हुआ है यानी जिसका 'सब्जेक्टिव' (आत्मगत) इस्तेमाल किया गया और इसलिए उसे ऐतिहासिक कार्य क्षेत्र का हिस्सा नहीं माना गया - इसे बदलना होगा। यदि आप इन चीजों को गंभीरता से लेते हैं, तो यह हमारे अकादमिक अनुशासन और हमारी प्रत्येक पार्टी में दिखाई देगा। उदाहरण के लिए, पार्टियों में महिलाओं की संख्या इतनी कम क्यों है?

हमें घरेलू श्रम के विषय में सोचना होगा। तीन-चौथाई काम महिलाओं द्वारा किया जाता है, यह पुराना आंकड़ा है। यदि तीन-चौथाई काम महिलाओं द्वारा किया जाता है तो इसमें से अधिकांश घरेलू क्षेत्र में किया जाता है, जो सामाजिक रूप से अत्यावश्यक काम है, जैसे बच्चों को जन्म देना और उनकी परवरिश करना। घरेलू श्रम पूर्ण रूप में अतिरिक्त श्रम है, क्योंकि इसमें से कुछ भी आय से नहीं जुड़ा हुआ है। इसे संगठित वामपंथ द्वारा अब तक एक मुद्दे के रूप में गंभीरता से नहीं लिया गया है।

फैक्टरियों में काम करनेवाली महिलाएं श्रमिक की श्रेणी में आती हैं। लेकिन घर में काम करने वाली महिलाएं किस श्रेणी में आती हैं? हमारे अधिसंख्य घर, मध्यमवर्गीय घर, हम जैसी पेशागत महिलाओं के घर अन्य महिलाओं के श्रम से चलते हैं। बच्चों का पालन-पोषण घर में काम करनेवाली अन्य महिलाओं के श्रम से होता है। लेकिन इसके लिए मध्यमवर्ग की महिलाओं को दोष नहीं दे सकते। वे दोहरा-तिहरा बोझ ढो रही हैं। अब वे अन्य महिलाओं से मदद ले रही हैं क्योंकि

पुरुषों की सोच नहीं बदल रही है। यदि एक पुरुष चाय बनाता है या बच्चों की देखभाल करता है, तो कदाचित वहां भावात्मक उलट-फेर होने लगता है। व्यक्तिगत लड़ाई को अकेले लड़ना प्रत्येक महिला के लिए आसान नहीं होता। अलगाव में बहुत ज्यादा उत्पीड़न है। जिंदगी में प्रतिरोध की रोजमर्रा कार्रवाइयां चलती हैं, जिन्हें हम वैचारिक स्तर पर नहीं रख सकतीं।

महिलाओं के स्वदेशी प्रतिरोध भी हैं, जैसे कि चिपको महिला आंदोलन, जिसने पर्यावरण नीति में काफी कुछ बदला है। देश के विभिन्न भागों में इस तरह के आंदोलन चल रहे हैं, जहां महिलाएं पहलकदमी ले रही हैं और पुरुष भी जुड़ रहे हैं। महिलाएं नेतृत्व में हैं। उन्होंने आंदोलन को नेतृत्व दिया है। सुंदरलाल बहुगुणा और चंडी प्रसाद जैसे लोग उसमें शामिल किये गये लेकिन नेतृत्व गौरा देवी जैसी महिलाओं का था, जो परंपरागत चेतना की उपज हैं।

अगर हम पीछे नहीं लौटेंगे और सीखने की इच्छा नहीं रखेंगे और उनको केंद्र में लाने की कोशिश नहीं करेंगे, तो परिणाम सिर्फ यह होगा कि हम मध्यवर्ग महिलाओं को नेतृत्व में लायेंगे। अगर सुंदरलाल जी की जगह हम नेता बन गयीं, तो ज्यादा कुछ हल नहीं निकालने वाला। देश में बहुत सारे महिला समूह हैं, गैरसरकारी संगठन हैं। मैं सोचती हूँ वे महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं लेकिन उनकी भूमिका सीमित है। और, जिसे अपनी भूमिका कहते हैं, उसकी अतिरेक (वास्तविकता से ज्यादा काल्पनिक) छवि उकेर रहे हैं।



## विमर्श

**रौशन धुन्जीभाँय :** यदि हमारी चर्चाएं पूर्णतः लोकतंत्र पर केंद्रित हैं, तो मैं एक थीसिस प्रस्तुत करना चाहूंगी। आप आज के दक्षिण एशिया को देखें, यहां लोकतंत्र सचमुच में ठीक से नहीं चल रहा है। कई उम्मीदें अधूरी हैं। यद्यपि भारत में किसी न किसी तरीके से लोकतंत्र चल रहा है लेकिन यह सर्वोत्तम नहीं है और श्रीलंका अभी भी उस राह पर नहीं है, जिस पर उसे होना चाहिए। लोकतंत्र सिर्फ राजनीतिक व्यवस्था नहीं है, जिसके तहत संविधान के आधार पर हर चार या पांच साल में चुनाव होते हैं। यह उन अधिकारों की गारंटी मात्र नहीं है, जो सिर्फ कागज में बचे हैं। लोकतंत्र का अर्थ तो यह है कि नागरिक निर्णय लेने में सक्षम हैं। उनको सूचना सुलभ है। उनको सूचना का चयन करने और निष्कर्ष तक पहुंचने का प्रशिक्षण प्राप्त है।

यह ऐसा कुछ नहीं है, जो स्वर्ग से टपकता है या आनुवंशिक रूप में हासिल होता है। यह कुछ ऐसा है जिसे सीखना होता है। लोकतंत्र परिवार से शुरू होना चाहिए। दक्षिण एशिया में परिवार श्रेणीबद्ध, पितृसत्तात्मक संस्था है, जहां महिलाएं तब मुखर हो पाती हैं, जब वे काफी बूढ़ी हो चुकती हैं। पेशा और विवाह परिवार द्वारा तय किये जाते हैं। आपका कोई अधिकार नहीं। जब आप खुद अपने जीवन के बारे में कोई फैसला नहीं कर सकते, तो आप राजनीतिक निर्णयों के बारे में सोच कैसे सकते हैं?

हम लोकतंत्र की बात करते हैं, तो यह परिवार, स्कूल और शिक्षा प्रणाली में शुरू होना चाहिए। हमारी शिक्षा प्रणालियां पूर्णतः अलोकतांत्रिक हैं। क्या कोई विद्यार्थी अपने बारे में खुद सोच सकता है? उसके स्वतंत्र विचार होने और अध्यापक के कहे अनुसार या पाठ्य पुस्तकों के अनुसार नहीं चलने की वजह से उसे अंक नहीं मिलेंगे! स्वतंत्र सोच को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। महिलाओं के प्रति खास रवैया परिवार से ही शुरू होता है। इसके बारे में हमें गंभीरता से सोचने की जरूरत है। यहां दर्शन और यथार्थ में विभाजन है। सिर्फ राजनीतिक अंश दर्शन नहीं है। उसे बरतना होगा।

महिलाओं पर पुरुषों का अधिकार है और वे स्वेच्छा से इस अधिकार को नहीं छोड़ने जा रहे हैं। इसको प्राप्त किया जाना है। यही कारण था कि शुरू में महिला आंदोलन इतना अतिवादी था। एक जर्मन नारीवादी ने कहा - 'हम उन्हें (पुरुषों को) नहीं चाहतीं, हमें उनकी जरूरत नहीं है। हमारे पास जननिक (जैनेटिक) बैंक हैं, हम पुरुषों के बगैर वहां से अपने बच्चों को प्राप्त कर सकती हैं।' सभी ने कहा - कितनी अतिवादी महिला है! कितना भयानक! संपूर्ण राष्ट्र ने पहली बार इस पर सोचना शुरू किया। उसके ऐसा कहने की वजह क्या है? उसने लोगों को हिलाने के लिए पानी में पत्थर फेंका। यही महिलाओं को बार-बार करना था। हमें पुरुषों पर पत्थर फेंकना है ताकि वे जगें, बैठें और समझें कि उत्पीड़न की प्रथा हजारों सालों से चली आ रही है। यह मात्र परिकल्पना नहीं है - ऐसा नहीं है, जो मात्र सिद्धांत में है। यह ऐसा है, जिसे हमें चौबीसो घंटे भुगतना है।

**अनीता घोष :** मैं दिल्ली में महिलाओं के साथ किये गये अपने काम के अनुभवों को बांटना चाहूंगी। मैंने अपने दोस्तों के समूह से पूछा - 'आप अपने बच्चों की देखभाल क्यों नहीं करते? पुरुष कहते - 'मैडम, वह तो बिल्कुल पागल है। उसे छोड़ दो।' लेकिन जब मैंने मां से पूछा तो उसने कहा - 'मैं मामले की पड़ताल करूंगी। उसे स्कूल ले जाऊंगी। मैं अपना समय दूंगी और अपना भावावेग बाटूंगी। उसने ऐसा इसलिए कहा क्योंकि वह मां थी। उसे विशेष लगाव था। यह सिर्फ मां ही समझ सकती है। इसलिए कहा गया है कि मां अपने आप में संस्था है।

**मणिमाला :** पिछले 300 सालों की आधुनिक परंपरा ही समस्या है। मैं जानती हूँ कि यदि मुझे कहा जाये कि सुबह चाय बनाओ, चाय पिलाओ, भोजन परोसो, बच्चों को उठाओ, सो जाओ, तो मैं उस तरह से नहीं जी पाऊंगी। मुझे वह पूरी दुनिया चाहिए, जो हर इंसान को चाहिए। मैं वह दुनिया नहीं चाहती, जो सिर्फ महिलाओं के लिए बनायी गयी है। मैं नहीं जानती कि उस दुनिया की तलाश में मुझे कितना आधुनिक होने की जरूरत है या मैं परंपरा का कितना हिस्सा लूंगी या मैं

कितना पाश्चात्य रंग में रंगूंगी। मुझे उन सभी चीजों की जरूरत है, जो मेरे लिए एक इंसान की तरह जीने के लिए जरूरी हैं।

**डीएल शेट :** हम पाश्चात्यीकरण, आधुनिकीकरण आदि के खांचे में लाकर पूरे मुद्दे को उलझा रहे हैं। मूल मुद्दा स्वतंत्रता और आत्म-बोध का है, बस।

**अरुण कुमार पानीबाबा :** मैं पाकिस्तान के बारे में बात कर सकता हूँ। वहाँ आपके पास क्लाशिनकोव, सेल फोन और अत्याधुनिक तकनीक हो सकती है। इस मायने में पाकिस्तान आधुनिक हो चुका है। लेकिन जब महिलाओं पर बात आती है, तो आधुनिकता नजर नहीं आती। आधुनिकता का चुनिंदा इस्तेमाल होता है।

## संगोष्ठी, रिपोर्ट और किताब तैयार करने की यात्रा में शामिल लोगों का परिचय

1. रिस्तो इसोमाकी
2. रौशन धुंजीभाँय
3. कमलनयन काबरा
4. विजय प्रताप
5. अनिल भट्टाराई
6. इकबाल अंसारी
7. इम्तियाज अहमद
8. डीएल शेट
9. विश्वबंधु गुप्ता
10. हरि रोका
11. हेमंत
12. पूर्णकांत अधिकारी
13. महेंद्र लावती
14. गोपाल शिवाकोटी चिंतन
15. पुरुषोत्तम अग्रवाल
16. डी राजा
17. दीप्तिप्रिया मेहरोत्रा
18. सूसान अदहल
19. सी लक्ष्मणन
20. स्वामी अग्निवेश
21. झलनाथ खनाल
22. अरुण कुमार सिंह
23. अशोक कुमार सिंह
24. केसी नाहटा
25. भेष बहादुर थापा
26. जोसेफ गाथिया
27. अनिता घोष
28. वीबी सिंह
29. प्रदीप गिरी
30. विमलेंद्र निधि
31. चित्रलेखा यादव
32. रेणु राजभंडारी
33. गरिमा शाह
34. योगेंद्र शाही
35. राजेंद्र रावल
36. ठाकुर गैरे
37. गोपाल मणि सिग्देल
38. नीना शेर्पा
39. नवराज पौडेल
40. तिल बहादुर विश्वकर्मा
41. टिका भट्टाराई
42. श्याम श्रेष्ठ
43. मणिमाला
44. अरुण कुमार पानीबाबा
45. झलक सुबेदी
46. दीपक प्रकाश थापा
47. सुजाता भट्ट
48. अरुण जोशी
49. कुसुमलता
50. सूरजदेव सिंह

## विषय-सूची

### भूमिका

लोकतंत्र संवाद की आवश्यकता	7
<i>अनिल भट्टराई-विजयप्रताप</i>	

### लोकतंत्र और अंतर्राष्ट्रीय एकता : दक्षिण एशियाई परिदृश्य

अमेरिकी दबाव का जवाब है उत्तर-दक्षिण संवाद	12
<i>रिस्तो इसोमाकी</i>	
वैश्वीकरण का अर्थ विश्व का अमेरिकीकरण!	14
<i>रोशन धुन्जीभाँय</i>	
पूँजीवादी वैश्वीकरण का हिस्सा है कालाधन	16
<i>कमलनयन काबरा</i>	
उत्तर-दक्षिण एकाः कुछ चुनौतियां	21
<i>विजय प्रताप</i>	
विमर्श	23

### दक्षिण एशिया की परम्पराएं और लोकतंत्र

परम्परा और लोकतंत्र	26
<i>इकबाल अंसारी</i>	
लोकतंत्र बनाम सह अस्तित्व की परंपरा	29
<i>इमियाज अहमद</i>	
सहभागी लोकतंत्र की ओर	31
<i>डीएल सेठ</i>	
विमर्श	

### भ्रष्टाचार : लोकतंत्र के लिए चुनौती

भारत में भ्रष्टाचार	44
<i>विश्वबन्धु गुप्ता</i>	
नेपाल में भ्रष्टाचार	46
<i>हरि रोका</i>	
भ्रष्टाचार और साम्प्रदायिकता : राजनीति के अलोकतांत्रिक पहलू	47
<i>विजय प्रताप</i>	
विमर्श	52

### लोकतंत्र सम्बर्द्धन की चुनौती

लोकतंत्र के लिए स्थानीय सहभागी आयोजन	55
<i>पूर्णकांत अधिकारी</i>	
नेपाल में लोकतंत्र : वेस्टमिंस्टर से संघीय मॉडल तक	57
<i>महेंद्र लावती</i>	
नेपाली समाज का लोकतंत्रीकरण : मुद्दे और चुनौतियां	60
<i>गोपाल शिवाकोटी 'चिंतन'</i>	
विमर्श	62
वक्ताओं के जवाब	66

### नेपाल में लोकतंत्र : सीमा और संभावना

प्रायश्चित और पश्चाताप से नयी शुरुआत संभव	68
<i>प्रदीप गिरी</i>	
माओवादियों को मुख्य धारा में लाना होगा	71
<i>हरि रोका</i>	
लोकतंत्र का नया मॉडल चाहिए!	73
<i>विमलेंद्र निधि</i>	
सहभागिता में है संकट का समाधान	76
<i>चित्रलेखा यादव</i>	
विमर्श	78

## अस्मिता की राजनीति और लोकतंत्र

अस्मिता, वैश्वीकरण और भारत में वाम राजनीति  
*पुरुषोत्तम अग्रवाल* 87

भारत में वामपंथी राजनीति और वैश्वीकरण  
*डी राजा* 92

विमर्श 96

## लोकतंत्र में स्त्री

स्त्री और पुरुष के लिए अलग-अलग जगह!  
*दीप्तिप्रिया मेहरोत्रा* 102

विमर्श 105

संगोष्ठी, रिपोर्ट और किताब तैयार करने की यात्रा में शामिल  
लोगों का परिचय 106